शक्तिपात-पथ-प्रदर्शिका—भाग ३

आह्लादिनी सिद्धमहायोग

: लेखक :

स्वामी शिवोमतीर्थ

dalini

शक्तिपात-पथ-प्रदर्शिका—भाग ३

आह्लादिनी सिद्धमहायोग

: लेखक :

स्वामी शिवोमतीर्थ

SWAMI VEDA BHARATI LIBRARY
Acc. No. 3147
Date 12.10.07

मूल्य : बीस रुपये

प्रकाशक :
देवात्म शक्ति सोसाइटी
ग्राम—नवाली, पोस्ट०—दहीसर विलेज,
ठाणे-पनवेल रोड,
जिला–ठाणे-४००६०१ (महाराष्ट्र)

संवत् २०४३ वि०—सन् १९८६ ई०
२००० प्रतियाँ

सर्वाधिकार प्रकाशक के सुरक्षित

मुद्रक :
विज्ञान प्रेस,
ऋषिकेश-२४९२०१
जिला–देहरादून (उ०प्र०)

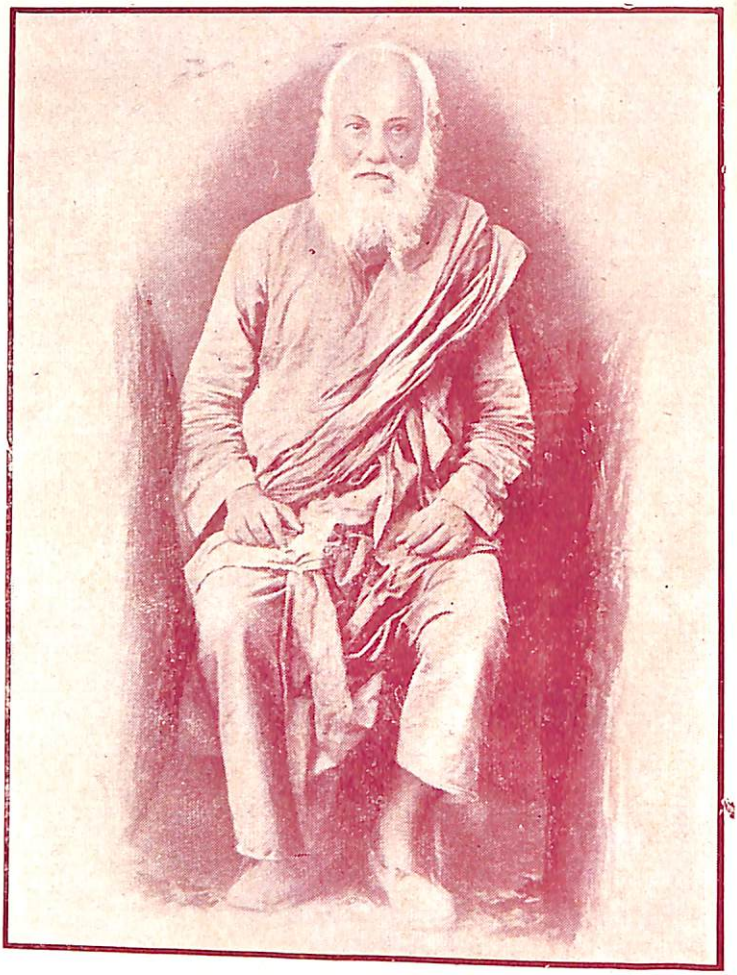

परमगुरु श्री योगानन्द जी महाराज के प्रथम गुरुदेव

भक्ति-स्वरूप श्री कृष्णानन्द जी महाराज (बाबा)

समर्पण

परमगुरुदेव श्री योगानन्द जी महाराज

के

प्रथम गुरुदेव परमादरणीय साक्षात् भक्तिस्वरूप

श्री कृष्णानन्द जी महाराज को

सादर समर्पित

—शिवोम्

दो शब्द

शक्तिपात-पथ-प्रदर्शिका का तीसरा भाग—"आह्लादिनी सिद्ध महायोग" प्रस्तुत है। भक्ति-विषयक तथा स्वाभाविक क्रिया-विवरणात्मक होने से इस पुस्तक को यह नाम दिया गया है। इसमें मुख्यत: भक्ति-सम्बन्धी क्रियाओं का ही उल्लेख है। आशा है कि साधक एवं पाठकगण इस से लाभान्वित होंगे।

योग श्री पीठ आश्रम, **—शिवोम् तीर्थ**
ऋषिकेश,
गुरुपूर्णिमा, दिनाङ्क २१-७-८६।

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ-सङ्ख्या
१. विषय-प्रवेश	.....	१
२. भक्ति के स्वरूप	—	६
३. नारदोक्त परमप्रेमरूपा भक्ति	.....	३२
४. शाण्डिल्य कथिता परानुरक्ति	.....	७९
५. भक्ति में नव-रस	.....	१२६
६. नवधा-भक्ति	...	१६०
७. सन्तवाणी में परा-भक्ति	.....	१९६

पुस्तकों के प्राप्ति-स्थान

१—देवात्मशक्ति सोसाइटी, ग्राम—नेवाली, पोस्ट०—दहीसर विलेज (वाया मुम्ब्रा), जिला ठाणे-४००६१२ (महाराष्ट्र)

२—श्रीनारायण कुटी, संन्यास आश्रम, देवास (म०प्र०)

३—योगश्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन), मुनीकीरेती, द्वारा—विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश-२४९२०१ (देहरादून) उ०प्र०

४—श्री स्वामी शिवोम्तीर्थ आश्रम, मुखर्जी नगर, रायसेन-४६४५५१ (म०प्र०)

५—श्री स्वामी शिवोमतीर्थ कुण्डलिनी सिद्धमहायोग सैण्टर, छिन्दवाड़ा-४८०००१ (म०प्र०)

६—श्री स्वामी विष्णुतीर्थ साधना सेवा न्यास, १-डायमण्ड कालोनी, इन्दौर (म०प्र०)

आह्लादिनी सिद्धमहायोग

विषय-प्रवेश

शक्तिपात पथ-प्रदर्शिका के भाग दो (कुण्डलिनी सिद्ध महायोग) में हमने शक्तिपात एवं उसकी साधना के विषय में योग की दृष्टि से विचार किया था। अन्तश्चेतना को योग-मार्ग में कुण्डलिनी अथवा प्रत्यक् चेतना कहा गया है। नामान्तर भेद से शक्ति के अन्तर्मुखी जागृत होने को आह्लादिनी, सीता, राधा, गौरी इत्यादि संज्ञाएँ दी गयी हैं। वास्तव में शक्ति एक ही है। साधक अपने स्वभाव एवं चित्त-भूमिका के अनुसार एक ही ईश्वर के नामों, स्वरूपों की भिन्न-भिन्न कल्पना करता है। यदि कोई भक्त भगवान् को विष्णु के रूप में लेता है तो उसकी शक्ति को लक्ष्मी कहा जाता है। इसी प्रकार भगवद्शक्ति के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसी प्रकार कृष्ण के साथ राधा, राम के साथ सीता, शङ्कर के साथ गौरी—सभी परमात्मा तथा उसके साथ उसकी शक्ति के द्योतक हैं। ये सब साधक की साधना के क्रम तथा पद्धति के अनुसार उसकी शक्ति के स्वरूपों का काल्पनिक वर्गीकरण है। एक बात सभी सिद्धान्तों में समान है कि ईश्वर को प्राप्त करने में उसकी शक्ति ही सहायक होती है।

वास्तव में ईश्वर की कल्पना शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य इत्यादि किसी भी देवता विशेष के रूप में क्यों न की जाय; किन्तु उपासना उस देवता की नहीं; अपितु उसकी शक्ति की ही होती है। ब्रह्म अथवा परमात्मा आधार है तथा उसकी शक्ति

आधेय। शक्ति विना आधार के नहीं रह सकती। यदि किसी को अपने घर में विजली लानी हो तो विजली के खम्बे से एक तार अपने घर में खींचना पड़ेगा अर्थात् विजली तार के आधार विना घर में नहीं आ सकती। परमात्मा तथा उसकी शक्ति वास्तव में एक ही हैं। परमात्मा के बिना शक्ति तथा शक्ति के विना परमात्मा की कल्पना करना असम्भव है। साधकों एवं विद्वानों ने विषय को समझने-समझाने मात्र के लिए शिव तथा शक्ति का वर्गीकरण कर रक्खा है। जहाँ शक्ति होती है, वहाँ उसका आधार भी साथ ही होता है और जहाँ आधार होता है, वहाँ शक्ति भी अवश्य होती है। इसीलिए आधार (ब्रह्म) को शक्तिमान् कहा जाता है। शक्ति कभी परमात्मा में विलीन हो जाती है और कभी व्यक्त होकर कार्यशीला हो जाती है। शक्ति के शक्तिमान् में विलीन होकर अव्यक्त होने की स्थिति को शिव कहा जाता है तथा व्यक्त होकर कार्यशीला होने की स्थिति को ईश्वर कहा जाता है।

सम्पूर्ण जगत् ईश्वर में स्थित है तथा ईश्वर की शक्ति की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। शक्ति में स्पन्दन होने के कारण शक्तिरूपी अथाह एवं अनन्त समुद्र में तरङ्गें या लहरियाँ उठती हैं जिसे शक्ति का संकुचन कहा जाता है। इससे चैतन्य शक्ति स्थूलवत् प्रतीत होती है। यह स्पन्द कई प्रकार की आकृतियों के रूप में व्यक्त होता है। उस आकृति का नाम रख दिया जाता है। इस प्रकार से नामरूपात्मक जगत् भासित होता है। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो यह सारा जगत् चैतन्य मात्र ही है जो कि शक्ति की अत्यन्त तीव्र गतिशीलता के कारण स्थूलवत् प्रतीत होता है। जैसे बिजली का पङ्खा तीव्र गति से घूमने पर स्थिरवत् प्रतीत होता है, इसी प्रकार इस

नाम-रूपात्मक जगत् का अस्तित्व भी विद्यमान् है। यह जगत् का समष्टि स्वरूप है जिसे इस दृष्टि से देखने पर ईश्वर का विराट् दर्शन कहा जाता है।

व्यष्टि स्तर पर जीव का शरीर भौतिक होता है। अर्थात् सृष्टि समष्टि स्तर पर स्पन्दित होकर जिस प्रकृति के रूप में परिलक्षित होती है, उसी प्राकृतिक पञ्च भौतिक सङ्घात के परिणाम स्वरूप जीवों के स्थूल शरीर का विकास होता है। तत्पश्चात् शक्तियुक्त शुद्ध ब्रह्म जीवों के इन शरीरों में आत्मा अथवा पुरुष का रूप धारण कर प्रविष्ट हो जाता है। ब्रह्म की चेतन सत्ता को समष्टि स्तर पर परमात्मा एवं व्यष्टि स्तर पर परमात्मा का अंश आत्मा कहा जाता है।

आत्मा से चैतन्य शक्ति उदय होकर जड़ चित्त के संयोग में आती है तथा चित्त को चैतन्यवत् कार्यशीलता प्रदान करती है जिससे मानसिक सङ्कल्प-विकल्प, बुद्धि की विचारशीलता, अहङ्कार का उदय एवं संस्कारों का सञ्चय ये चार क्रियाएँ चित्त के अन्तर्गत ही घटित होती हैं। शक्ति के चित्त के तादात्म्य में आने तथा उसे कार्यशीलता प्रदान करने के स्तर को चित्त शक्ति कहा जाता है। चित्त से नीचे की ओर अग्रसर होती (प्रसवक्रम में नीचे उतरती) हुई शक्ति पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के संयोग में आकर इन्हें भी चित्त की ही तरह कार्यशीला बनाती है। वास्तव में ये कार्यशीलता इन्द्रियों की नहीं होती, अपितु इन्द्रियों के माध्यम से शक्ति की होती है। जिस प्रकार पंखा बिजली का संयोग होने पर घूमता है, किन्तु वास्तव में पंखे के माध्यम से बिजली ही गतिमान् होती है। इसी प्रकार इन्द्रियों एवं चैतन्य शक्ति के संयोग तथा कार्यशीलता का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए।

इन्द्रियों से होकर उन्हें कार्यशीला बनाती हुई प्रसवक्रम में जगत् की ओर उन्मुख शक्ति जगत् में प्रचार, प्रसार, निर्माण एवं विध्वंस का कार्य आरम्भ करती है। इस प्रकार प्रसवक्रम में शक्ति अपने मूल कारण एवं उद्गम आत्मा से बहुत दूर निकल जाती है। आत्मा को भूलकर शक्ति जगत् के कार्यों में ही लग जाती है, किन्तु इस स्थिति में भी अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप एवं निर्विकार गुणों को नहीं त्यागती। जगत् में कार्य-रत इसी विस्मृत अवस्था को शक्ति की प्रसुप्त अवस्था कहा जाता है। योग-मार्ग में कुण्डलिनी अथवा चेतना तथा भक्ति-मार्ग में आह्लादिनी, सीता, राधा, गौरी, लक्ष्मी आदि से इसी ओर संकेत किया गया है।

प्रसुप्तावस्था में शक्ति जगत् में क्षणभर के लिए भी बिना कार्य के नहीं रहती। प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ कार्य करती ही रहती है। इसलिए शक्ति की प्रसुप्त अवस्था एक औपचारिक कथन है। इसका शाब्दिक अर्थ करने तथा समझने में पाठक भूल कर सकते हैं। प्रसुप्त अवस्था इसलिए कही जाती है कि शक्ति अपने उद्गम अथवा कारण की ओर से उदासीन तथा जगत् की ओर कार्यशीला होती है। जब शक्ति आत्मा की ओर उन्मुख हो जाती है तथा जगत् में अपने फैलाव को समेटना आरम्भ कर देती है तो इसे कुण्डलिनी की जागृति कहा जाता है। योग-दर्शन में इसे चेतना का प्रत्यक् चेतना होना कहा गया है तथा भक्ति-मार्ग में आह्लादिनी, लक्ष्मी, राधा, सीता की अनु-कम्पा कहा जाता है। अर्थात् शक्ति प्रसवक्रम में नीचे उतरती है तो जगत् के रूप में फैलती चली जाती है और वही शक्ति जागृत होकर प्रतिप्रसवक्रम में अपने द्वारा प्रसारित फैलाव को समे-टती हुई ऊपर चढ़ती चली जाती है। व्यष्टि स्तर में शक्ति के

प्रसवक्रम में चित्त में सञ्चित संस्कारों एवं विकारों के कारण चित्त अशुद्ध होता जाता है तथा जीव जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। प्रतिप्रसवक्रम में संस्कारों का क्षय तथा चित्त-शुद्धि का क्रम आरम्भ हो जाता है जिससे वासनाएँ क्षीण होने के साथ-साथ जीव जन्म-मरण से मुक्त होने की दिशा में अग्र-सर होता है। शक्ति का प्रसवक्रम जगत् की ओर जाने वाले मार्ग पर आरूढ़ होता है तो प्रतिप्रसवक्रम आत्माभिमुखी बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करता है।

भक्ति के स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति एवं तत्पश्चात् होने वाली साधना पर योगिक दृष्टि से विचार किया गया था। अतः दूसरे भाग का नाम भी "कुण्डलिनी सिद्ध महायोग" रखा गया था। प्रस्तुत तीसरे भाग में इसी विषय को भक्ति की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया जा रहा है। अतः इसका नाम आह्लादिनी सिद्ध महायोग रखा गया है। प्रस्तुत शृङ्खला के दूसरे भाग में योगिक अनुभवों का ही विस्तार था। इस भाग में मुख्यतः भक्ति-विषयक क्रियाओं का ही उल्लेख है।

भक्ति का अर्थ हृदय में भगवान् अथवा गुरु के प्रति निष्ठा और समर्पण का भाव होता है। भक्ति किसी कर्म का नहीं; अपितु हृदय के भाव का नाम है। यदि कोई व्यक्ति प्रातःकाल खूब पूजा-पाठ करे, घण्टियाँ बजाये, तिलक लगाये, मस्तक नवाये, किन्तु उसके हृदय में कोई विशेष प्रेम न हो, अपितु जगत् के विषयों के प्रति आसक्ति का भाव हो तो वह व्यक्ति भक्त कहलाने का अधिकारी नहीं होता। इसी प्रकार कोई व्यक्ति यदि पूजा-पाठ इत्यादि करे अथवा न करे, किन्तु उसका हृदय भक्तिरस से भरपूर हो, भगवान् का नाम सुनकर अथवा भगवत्-प्रतिमा या चित्र देखकर उसकी आँखों से अश्रुपात होने लगता हो, भगवच्चर्चा अथवा भावमय कीर्तन इत्यादि सुनकर वह झूम उठता हो तो उसे भक्त कहा जायेगा। जिसका हृदय

इतना कोमल हो कि दीन-दुखियों को देखकर करुणा से भर जाता हो तथा इतना कठोर हो कि बड़े से बड़ा दुःख आने पर भी प्रभावित होता हो, मान-अपमान से अतीत हो, जिसको अभिमान छू तक भी न गया हो—वही भक्त कहलाने का अधिकारी है।

आजकल कथावाचक तथा उपदेशक इस प्रकार प्रचार करते हैं कि लोगों का जो समय उनकी कथा या उपदेश सुनने में व्यतीत होता है, वही सार्थक है। बाकी समय तो जगत् के प्रपञ्च में ही रहकर व्यतीत होता है। सत्सङ्ग से तो केवल प्रभु के प्रति प्रेम, साधना का स्वरूप, जगत् का यथार्थ स्वरूप, सत्सङ्ग की महिमा इत्यादि विषयों पर उच्चस्तरीय शुद्ध, सात्विक विचार मिलते हैं। साधन के प्रति उत्साह बढ़ता है। अनासक्त अथवा निष्काम कर्म की युक्ति समझ में आती है। किन्तु वास्तविक लाभ—विषयों का भय तथा निष्काम कर्म के क्रियात्मक अभ्यास इत्यादि का विकास—जगत् के कर्म अथवा साधना करते हुए ही प्राप्त होता है। भक्ति का अभ्यास-स्थल सत्सङ्ग न होकर व्यावहारिक कार्यक्षेत्र है। जो लोग कर्म से उदासीन रहते हैं, साधना में उत्साह नहीं दिखाते, किन्तु सत्सङ्ग में अधिक रुचि लेते हैं, उनका सत्सङ्ग श्रवण-वासना ही कहा जायेगा।

सारा जीवन, जीवन का प्रत्येक कर्म, हृदय का प्रत्येक भाव, बुद्धि का प्रत्येक विचार, समय का प्रत्येक क्षण साधनामय, भक्तिमय होना चाहिए। जो लोग अपना समय अध्यात्म तथा व्यवहार में बाँट लेते हैं, वे आध्यात्मिक उन्नति कदापि नहीं कर सकते क्योंकि जब तक अन्तः तथा बाह्य दोनों साधनाओं का मेल नहीं होता, साधना पूर्ण नहीं होती।

भक्ति के आन्तर एवं वाह्य—दो स्तर होते हैं। वाह्य भक्ति कर्म-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि है अर्थात् अपने कर्म को भगवान् की सेवा मानकर अथवा कर्त्तव्यबुद्धि से अथवा निष्काम अनासक्त होकर करना। इस प्रकार अनासक्तिपूर्वक अथवा भगवान् की सेवा मानकर कर्म करने से उन कर्मों का संस्कार-सञ्चय बन्द हो जाता है। आन्तरिक साधना या भक्ति से—जिसमें पूजा, उपासना, जप, ध्यान, कीर्तन इत्यादि का समावेश है—आन्तरिक पूर्व-सञ्चित संस्कार क्षीण होने में सहायता मिलती है। इस प्रकार सेवा अथवा कर्त्तव्यपालन से संस्कारों का संचय रुक जाता है और अन्तर्भक्ति, उपासना अथवा साधना द्वारा पूर्व संस्कार क्षीण होते हैं। अतः भक्ति-मार्ग पर आरूढ़ हुआ भक्त अपनी आध्यात्मिक उन्नति के उच्च स्तरों पर रमण करने लगता है। इस प्रकार उसकी साधना, भजन आदि की निरन्तरता का आरम्भ हो जाता है। जब वह कर्म करता है, तब भी वास्तव में वह भजन ही करता है।

प्रतीक अथवा सगुण भेद से भक्ति दो प्रकार की होती है। आजकल प्रायः प्रचारक, उपदेशक, प्रवचनकार अथवा कीर्त्तन-कार प्रतीक एवं सगुण भक्ति में अन्तर नहीं कर पाते तथा प्रतीक-भक्ति को ही सगुण भक्ति कहकर प्रचारित करते हैं। प्रतिमा, चित्र, पर्वत, नदी, समुद्र, पुष्प, रङ्ग अथवा मानसिक प्रतिमाएँ—सभी प्रतीक उपासना के अन्तर्गत आते हैं। मनुष्य भगवान् की भक्ति करना चाहता है; किन्तु भगवान् उसके समक्ष नहीं होता। अतः भगवत्-उपासना करने के लिए उसे वाह्य अवलम्बन की आवश्यकता प्रतीत होती है। तब वह भगवान् के प्रतीक के रूप में दृश्यमान् जगत् में से कोई भौतिक पदार्थ अपने समक्ष रखकर उसमें भगवद्भावना अथवा प्राण-

प्रतिष्ठा करके उसके माध्यम से भगवान् की उपासना, पूजा अथवा भजन करता है। दीर्घकालीन साधना, उपासना के द्वारा धीरे-धीरे परमात्मा की शक्ति साधक के अन्तर में उसकी देह, इन्द्रियों अथवा चित्त को आधार बनाकर स्वयं से भिन्न अनुभव में आने लगती है। गुरु-कृपा का अवलम्ब लेकर भी इस स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। यह शक्ति चित्त के अन्दर माया तथा तीनों गुणों के आवरण के अन्तर्गत सञ्चित संस्कारों के आधार पर क्रियाएँ करती हुई साधक को प्रत्यक्ष अनुभव होती है। अतः शक्ति के इस स्तर को सगुण कहा जाता है तथा इस स्तर के भजन-साधन को ही सगुणोपासना कहना अधिक उपर्युक्त है।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी भक्ति दो प्रकार की कही जाती है, आन्तरिक एवं बाह्य। अपने शरीर से बाहर भगवान् की कल्पना करके उसकी उपासना, ध्यान अथवा भजन करना—उसके गुण, प्रभाव, तत्त्व अथवा रहस्य को समझने का प्रयत्न करना बाह्य भक्ति कहलाती है। आजकल संसार में प्रायः बाह्य भक्ति की ही प्रधानता है। मन्दिर बनाना ,पठन-पाठन, सत्सङ्ग, तीर्थ-यात्रा – सब इसी बाह्य भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। आन्तरिक भक्ति दो प्रकार की होती है। एक अपने अन्तर में भगवान् की कल्पना करके उसका जप, ध्यान इत्यादि करना। इसके अन्तर्गत भगवान् मात्र काल्पनिक अथवा मानसिक विषय रहता है। अतः भक्त को किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं होती। आन्तरिक भक्ति के दूसरे प्रकार में भगवान् अथवा भगवद्-शक्ति काल्पनिक अथवा मानसिक विषय नहीं रहती। साधक के अन्तर में ईश्वर चित्त एवं इन्द्रियों के आधार पर प्रकट एवं

प्रत्यक्ष होता जाता है। इसका स्पष्टीकरण एवं व्याख्या आगे यथा स्थान करेंगे।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी भक्ति को दो ही प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—कर्तृत्वाभिमान तथा आसक्ति-युक्त भक्ति और परम-प्रेमरूपा भक्ति अथवा परा भक्ति। जब तक मनुष्य जगत् के विषयों से आकर्षित होकर उनके प्रति आसक्ति रखता है, तब तक तो वह भगवान् अथवा वास्तविक भक्ति से दूर ही रहता है। किन्तु जब उसका आकर्षण भगवान् की ओर होता है और वह साधन के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तब उसके अन्तर का कर्त्तापन का भाव उसका पीछा नहीं छोड़ता और वह कर्तृत्वाभिमान तथा आसक्ति से युक्त होकर ही भजन, साधना, उपासना आदि करता है। इसमें उसका संस्कार-सञ्चय तो बन्द नहीं होता, पर उसके तमोगुणी, रजोगुणी संस्कारों का क्षय होता है और सत्त्वगुणी संस्कारों की वृद्धि होती जाती है। इस स्थिति को योगदर्शन की भाषा में निरोध परिणाम कहते हैं अर्थात् व्युत्थान के संस्कारों का निरोध तथा विवेक के संस्कारों की वृद्धि। आगे चलकर जब साधक के मन में ईश्वर के प्रति मानसिक समर्पण उदय होता है, तब वह अपनी साधना तथा कर्म दोनों को भगवत्-सेवा समझकर करने लगता है। उसमें भगवान् के प्रति नम्रता, दीन भाव एवं प्रेम इत्यादि की भावनाएँ बलवती होती जाती हैं। इसी प्रकार जप, पूजा, ध्यान, उपासना का अनुष्ठान करते-करते, भगवान् की सेवा समझकर सभी व्यवहार करते हुए एवं सद्गुरु की अनुकम्पा प्राप्त होने पर उसकी शक्ति, जिसे वह अभी तक अपनी मानता था, उसकी इन्द्रियों के आधार पर किन्तु इन्द्रियों से भिन्न अनुभव में आने लगती है। इसी को

आह्लादिनी शक्ति की जागृति कहा जाता है। तब साधक कर्तृत्वाभिमान से ऊपर उठकर परमप्रेमरूपा भक्ति में स्थित होता है। इसके अन्तर्गत सकाम भक्ति का कोई स्थान नहीं है। कामनापूर्त्ति की इच्छा जगत् की ओर ढकेलने वाली है, जबकि कामनाओं की निरोधरूपा होने के कारण भक्ति जगत् के विषयों तथा कामनाओं के प्रति भक्त के चित्त में वैराग्य उत्पन्न करती है। इस स्तर पर आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होकर साधना का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वयं सँभाल लेती है। भक्त के लिए स्वयं ईश्वर साधनरत हो जाता है जिसे भक्त दृष्टाभाव से मात्र देखता रहता है। साधक के अन्तर में जो भी क्रिया घटित होती है, वह उसके संस्कारों के आधार पर होती है। अतः साधक के इस साधन-स्तर को स्वयंसिद्ध साधन भी कहा जाता है।

गौणी तथा वेध भक्ति

एक और दृष्टिकोण है जिसके आधार पर भक्ति को अन्य दो स्तरों पर विभक्त किया जाता है—गौणी भक्ति और वेध भक्ति।

गौणी भक्ति—यह पहले ही कहा जा चुका है कि कर्तृत्वाभिमानयुक्त बाह्य प्रतीक भक्ति निम्न स्तर की भक्ति है। इसी भक्ति को यहाँ गौणी भक्ति कहा है। भक्ति की इस अवस्था को मुख्य नहीं कहा जा सकता; अपितु यह सच्ची अर्थात् परा भक्ति, परमप्रेमरूपा भक्ति या सगुण भक्ति को प्राप्त करने के लिए साधक का प्रयत्न मात्र है। कभी तो साधक कामनापूर्त्ति की ओर झुककर अपनी भक्ति का प्रवाह जगत् की ओर मोड़ देता है और कभी उस प्रवाह को परमा-

त्माभिमुखी स्थिर रखने का प्रयत्न करता है जिसमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा कर्म के प्रति आसक्ति बनी रहती है। ऐसे भक्तों का प्रेम-प्रवाह भगवान् की ओर न होकर सुख-सुविधाओं, इच्छाओं की पूर्त्ति अथवा क्लेशों, दुःखों की निवृत्ति की ओर हो जाता है। भगवान् तो उन कामनाओं की पूर्त्ति के लिए माध्यम मात्र होते हैं। इसी से आज के युग में कामनाओं की पूर्त्ति करने वाले हजारों पाखण्डी गुरु उत्पन्न हो गये हैं। किन्तु जब भक्त अपने प्रयत्न को ईश्वर की सेवा का रूप देता है तथा उस सेवा को अपने द्वारा नहीं; अपितु ईश्वर-शक्ति के द्वारा पूर्ण होने में स्वयं को माध्यम समझता है तथा अपनी भक्ति का फल भी ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है और उसे समर्थ एवं पूर्ण गुरु की कृपा उपलब्ध होती है, तब वह ईश्वर का कृपा-पात्र होने पर वेध भक्ति में प्रवेश कर जाता है। तभी उस कृपा का भरपूर उपयोग सम्भव होता है।

वेध भक्ति—योग-मार्ग में सुषुम्णा स्थित षट्चक्रों के वेध को वेध कहा जाता है अर्थात् शक्ति चक्रों का भेदन करती हुई सुषुम्णा में नीचे से ऊपर चढ़ती चली जाती है। किन्तु भक्तिमार्ग में चित्त की अशुद्ध वृत्ति, अशुभ संस्कारों, कुविचारों इत्यादि का वेध कर भगवती आह्लादिनी इन सब का क्षय करती जाती है एवं चित्त में प्रभु-प्रेम, वैराग्य, दया, क्षमा, अक्रोध इत्यादि सद्वृत्तियाँ उत्पन्न करती है। वास्तव में वेध संस्कारों एवं क्लेशों का ही होता है। वेध-मार्ग में इस वेध की अनुभूति चक्रों के आधार पर होती है। प्रेमी भक्त तो भक्ति के आवेश में डूबा रहता है। उसे तो बस अपने भगवान् से काम होता है। वह उसी की ओर अपना मन एकाग्र किये रहता है। भक्त का

ध्यान चक्रों की ओर हो अथवा न हो, भगवती आह्लादिनी वेध-कार्य करती ही जाती है।

एक अन्य दृष्टिकोण भी है जिसके आधार पर भक्ति के दो स्तरों पर भिन्न-भिन्न नामकरण किये जाते हैं—(१) आणवोपाय, और (२) शाक्तोपाय।

आणवोपाय तथा शाक्तोपाय

जीव अणु मात्र है। इस सृष्टि का सब से लघु भाग अणु कहलाता है। जीव भी अणु के समान है। उसका प्रयत्न अध्यात्म के क्षेत्र में फलदायी नहीं होता, क्योंकि उसकी कोई शक्ति ही नहीं होती। उसे तो केवल शक्ति का अभिमान मात्र होता है। जीव उस परमात्मा तक तो पहुँच नहीं पाता, किन्तु बातें बड़ी-बड़ी करता है। ऊँचे सपने देखता है। दर्पोक्तियाँ करता है। अपनी साधना पर उसे इतना अभिमान होता है कि भगवान् की माया को पार कर जाने की बातें करता, सोचता है, किन्तु वह नहीं जानता कि भगवान् उससे कहीं अधिक शक्तिशाली हैं। उनकी माया जीव को भ्रमित करने में पूर्णतया सक्षम है। जीव अपनी साधना के बल पर भगवान् की माया को पार करने में कभी भी सक्षम नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिथ्या अभिमान से ओतप्रोत है। वह आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयत्न तो बहुत करता है, किन्तु साथ ही साथ उसे उसका अभिमान भी हो ही जाता है। अतः इस स्तर पर भक्त के जप, कीर्त्तन, उपासना, साधना इत्यादि को आणवोपाय कहा जाता है। किन्तु जब उस पर गुरु-कृपा की वर्षा होती है और वह नम्र एवं दीनभाव से गुरु-प्रदत्त साधन करता है तो उसकी अन्तर्मखी अथवा आह्लादिनी शक्ति जागृत होकर क्रियाशीला

हो जाती है। भगवती आह्लादिनी वही अन्तर्मुखी शक्ति है जो पूर्व में माया के रूप में अभिव्यक्त होकर जीव का मार्ग अवरुद्ध किए हुए थी। वही माया शक्ति उसका मार्ग प्रशस्त करने का गुरुतम कार्य सम्पादित करना आरम्भ कर देती है। साधना के इस स्तर को शाक्तोपाय कहा जाता है, क्योंकि तब जीव अपने प्रयत्न से साधन नहीं करता वरन् शक्ति को अपने अन्तर में कार्य अथवा साधनरत अनुभव करता है।

सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने एक सङ्कल्प किया—"मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ।" तब माया के रूप में भिन्नत्व तथा नानात्व फैलकर दीखने लगा। भाँति-भाँति के जीव अस्तित्व में आ गये अर्थात् भिन्न-भिन्न जीवों की रचना भगवान् के सङ्कल्प के अधीन हुई है। उसी की माया से सभी अभिभूत हैं। साधन, भजन, एवं पूजा-पाठ का अर्थ है भगवान् के सङ्कल्प के विपरीत भगवान् में विलीन होने का प्रयत्न करना। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि साधक को भगवान् से ही युद्ध करना है कि वह अपना सङ्कल्प वापस ले ले। जीव में इतनी शक्ति नहीं है कि वह भगवान् को अपनी माया समेटने के लिए विवश कर दे। अतः एकता से अनेकता का भगवत् सङ्कल्प हटाने तथा अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए जीव को भगवत् शक्ति की ही आवश्यकता होती है जो कि आह्लादिनी शक्ति के जागृत एवं क्रियाशीला होने पर ही प्राप्त होती है।

पराधीन एवं स्वतंत्र भक्ति

अन्तर शक्ति आह्लादिनी के जागृत एवं स्वयंसिद्ध साधन आरम्भ होने से पूर्व की अवस्था में साधक का जप, पूजा-पाठ, ध्यान, भजन, बाह्य उपकरणों, वस्तुओं, पदार्थों, प्राणियों इत्यादि

के अधीन रहता है। उपासना के लिए पूजा-सामग्री इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है। जप के लिए एक मंत्र आवश्यक है। पठन-पाठन के लिए शास्त्र की नितान्त आवश्यकता होती है तथा उसके साथ-साथ साधक में योग्यता होना भी उतना ही आवश्यक है। सेवा के लिए कार्यक्षेत्र, पूजा के लिए प्रतिमा, चित्र अथवा मानसिक प्रतीक की आवश्यकता है। हठयोग के अभ्यास के लिए स्वस्थ शरीर एवं समर्थ गुरु की आवश्यकता है। ध्यान के लिए ध्येय पदार्थ तथा निर्विघ्न शान्त वातावरण की आवश्यकता है, आदि-आदि। अतः यह साधन स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आवश्यक सामग्री या पदार्थ के अभाव में साधन का क्रम रुक जाता है। किन्तु जब शक्ति अन्तर्मुखी जागृत हो जाती है, तब स्थिति एक दम परिवर्तित हो जाती है। जब साधना करने वाली शक्ति अन्य है और साधक केवल दृष्टा मात्र रह जाता है, तब उसे किसी वस्तु अथवा पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। फिर तो बाल हो अथवा वृद्ध, स्त्री हो अथवा पुरुष, हिन्दू हो अथवा अहिन्दू, भारतीय हो अथवा यूरोपाय, रोगी हो अथवा निरोग, पठित हो अथवा अपठित, मूढ़ हो अथवा विद्वान्, धनी हो अथवा निर्धन—सभी इस साधना के अधिकारी हैं। माला हो अथवा न हो, शान्त वातावरण उपलब्ध हो या न हो, पोथी हो अथवा न हो, प्रत्येक परिस्थिति में किसी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं पड़ता। इसी-लिए साधना के इस स्तर को स्वतःसिद्ध साधन कहा जाता है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान् सर्वत्र विद्यमान् है, सर्वव्यापक है, जीवों के चित्त में भी विराजमान् है, किन्तु उसकी अनुभूति जीव को नहीं होती, क्योंकि उन्होंने स्वयं को माया के आवरण में छिपा रखा है। जीव की बुद्धि का विपरीत हो जाना,

कुछ का कुछ देखने, समझने तथा मानने लगना, ज्ञान का अज्ञान हो जाना माया कहलाता है। भगवद् शक्ति की तरह ही माया भी सर्वव्यापक है, क्योंकि जहाँ शक्ति विद्यमान् होती है, कुछ आकृतियाँ बनती हैं, उनके नाम-रूप होते हैं, वहाँ माया भी होती है। किन्तु माया का आवरण वास्तविक रूप में जगत् को आच्छादित किये हुए नहीं होता, अपितु जीव की बुद्धि पर पड़ा होता है। मनुष्य जिस रङ्ग का चश्मा लगाता है, उसे जगत् उसी रङ्ग का दिखायी देता है। यदि जीव ज्ञानरूपी चश्मा पहने होता है तो जगत् यथार्थ स्वरूप में अर्थात्—'सर्वत्र चैतन्य फैला हुआ है'—ऐसा अनुभव होता है। किन्तु जब जीव अज्ञान का चश्मा पहने होता है तो जगत् नाम-रूपात्मक दिखायी देता है एवं सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, अनुकूलता-प्रतिकूलता इत्यादि से ओत-प्रोत भासित होता है।

माया के कारण ही चित्त में जीवभाव उत्पन्न हो जाता है। अचेतन चित्त में चेतन की भावना जीवभाव का स्वरूप है जो चित्त पर पड़े माया के आवरण की ही देन है। माया का आरम्भ जगत् का अपने से भिन्न दिखायी देने से होता है। जब तक आत्मा स्वयं में स्थित (अद्वैत) होता है, तब तक माया से अछूता रहता है, किन्तु जब वह चित्त से तादात्म्य कर चित्त को चैतन्यवत् कार्यशीलता प्रदान करता है एवं इन्द्रियों के माध्यम से अपने से भिन्न इस जगत् को देखता है, वहीं उसके चित्त पर माया का आवरण आ जाता है। तब जीव के चित्त में अस्मिता रूपी जीवभाव तथा उसके पीछे-पीछे अन्य क्लेश एवं संस्कार विकसित एवं सञ्चित होते चले जाते हैं तथा जीव माया में पैठता चला जाता है। इसीलिए योगदर्शन में इस

माया अथवा अविद्या को ही सुख-दुःखों का हेतु माना गया है—
"तस्य हेतुः अविद्या।"

शक्ति आत्मा से प्रादुर्भूत होकर चित्त और इन्द्रियों के आधार पर कार्य करती हुई नीचे जगदाभिमुखी प्रवाहित होती है। अर्थात् इस जगत् रूपी वृक्ष की जड़ ऊपर ब्रह्म में अवस्थित है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् इसी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

'ऊर्ध्व मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।'

अर्थात् यह वट-वृक्ष उलटा है। इसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे हैं। संसारी जीवों की बुद्धि भी उलटी है। इसलिए उन्हें यह जगत्रूपी दृश्य सीधा दिखायी देता है। अर्थात् यह जगत् मिथ्या होते हुए भी सत्यवत् प्रतीत होता है। जगत् में दुःख ही दुःख होते हुए भी विषयों में सुख भासता है। अनात्म होते हुए भी शरीर में देहात्म-बुद्धि दृढ़ हो गयी है। ये सभी बातें उलटी होते हुए भी सुलटी प्रतीत होती हैं। यही माया है।

माया की गति अनिर्वचनीय है। माया का आरपार कुछ पता नहीं लगता। मनुष्य की बुद्धि इस सीमा तक विपरीत सोचने की दृढ़ अभ्यस्त हो जाती है कि उसका कहीं अन्त ही नहीं आता। यह सब शक्ति के प्रसवक्रम में प्रवाहित एवं प्रसारित होने के कारण ही होता है। माया के प्रभाव का कारण वर्णन करते हुए परम भक्त सहजो बाई ने इस प्रकार कहा है—

"साधो मन माया के संग सब जग रंग रहयौ॥
मूरख पचे खेल के अँधरे नाना स्वाँग बनाये।
आसा धरि-धरि नाचन लागे, चोवा चाह लगाये।

जोग करे विधि आठौं चाहैं मान बड़ाई हेत।
राज वासना भोग लोक के कासी करवत लेत।
पंच अगिनि बहु तापन लागे, बहुत अर्ध मुख भूल।
बहुतक दौड़े अड़सथ तीरथ, ज्ञान लगी गये भूल।
चरणदास गुरु तत्त्व लखायो, दीन्हे खेल छुटाय।
सहजो बाई सीस नवावत, वारू बलि जाय ।।४।।"

अर्थात् चित्त में माया का आवरण इतना सघन हो जाता है तथा जड़ और चेतन की ग्रन्थि इतनी कस जाती है कि छूटने का नाम ही नहीं लेती। मनुष्य इस माया से उबरने का जितना ही प्रयत्न करता है, उतना ही इसमें और फँसता चला जाता है। यहाँ तक कि अन्ततः मायामय ही होकर रह जाता है। जितने भी जप, साधना, पूजा-पाठ इत्यादि उपाय हैं, वे इस माया के आवरण को हटाने के लिए ही हैं। यह हम बतला ही चुके हैं कि शक्ति का प्रसवक्रम में चित्त तथा इन्द्रियों के स्तर पर नीचे उतरना ही माया है। जब तक शक्ति प्रसवक्रम में रहेगी, तब तक कितनी भी साधना, उपासना करने पर भी माया का आवरण रहेगा ही। किन्तु शक्ति का प्रति प्रसवक्रम होते ही माया का आवरण क्षीण होना आरम्भ हो जाता है। इसी को कुण्डलिनी, आह्लादिनी, सीता, राधा आदि का अन्तर्मुखी प्रतिप्रसवक्रम में जागना तथा क्रियाशीला होना कहा जाता है। अर्थात् भक्ति की वास्तविक अवस्था तभी प्रारम्भ होती है जबकि आह्लादिनी जागृत होकर कार्य करना आरम्भ कर देती है। इसीलिए आह्लादिनी शक्ति का इतना गुणगान किया जाता है।

आगे यथास्थान शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति के विषय में प्रकाश डाला जायेगा। किन्तु जैसा कि नारद भक्तिसूत्र तथा

तथा शांडिल्य भक्तिसूत्र में आल्हादिनी शक्ति की जागृति के लिए कई उपाय सुझाये गये हैं, इन सब का लक्ष्य वही एक है। किन्तु आह्लादिनी के जागृत तथा क्रियाशीला होने का मुख्य उपाय सद्गुरु की कृपा प्राप्त करना ही कहा गया है। योगिक एवं तांत्रिक ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर ऐसा ही उल्लेख आया है। इसीलिए गुरु को साधन-पथ में अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। यहाँ तक कि गुरु-कृपा प्राप्त किये बिना कोई भी साधक भगवान् को प्राप्त कर ही नहीं सकता। यह ध्यान रहे कि गुरु का अर्थ यहाँ पर पूर्ण सामर्थ्यवान् तथा सद्-गुरु है--ढोंगी, कपटी एवं दम्भी गुरु नहीं है। सामर्थ्यवान् गुरु की कृपादृष्टि होते ही गुरु-शरीरस्थ ईश्वरीय शक्ति में स्पन्दन एवं स्फुरण हो उठता है। इससे शिष्य की चित्त शक्ति प्रति-प्रसव क्रम में अन्तर्मुखी जागृत हो उठती है। तब शिष्य की पापराशि जलने लगती है, वासनाएँ क्षीण होने लगती हैं, विकार शान्त होने लगते हैं और चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध होने लगती हैं अर्थात् माया के सभी सहयोगी एक-एक करके चित्त को छोड़-कर बाहर भागने लगते हैं। चित्त शुद्ध होने लगता है जिससे अन्तर से भगवान् का प्राकट्य सम्भव है।

आल्हादिनी की जागृति होने पर साधक को एक ऐसा साधन मिल जाता है जिसमें प्रतीक-भक्ति की कोई विशेष आवश्यकता न रह कर गुणों के अन्दर शुद्ध ईश्वर का प्राकट्य हो जाता है। जब तक साधक के चित्त में प्रतीक-उपासना के भाव बने रहते हैं, तब तक वह उसमें कुछ रुचि तो लेता है, परन्तु वस्तुतः उसकी बाह्य साधना समाप्त होकर अन्तरङ्ग साधना आरम्भ हो जाती है। कर्तव्याभिमान तथा आसक्तियुक्त भक्ति के स्थान पर उस में द्रष्टा-भाव उत्पन्न हो जाता है तथा जागृत शक्ति

की स्वतःसिद्ध क्रियाओं के प्रति उसके चित्त में स्वभावतः ही परमप्रेम का भाव पैदा हो जाता है। जिस भगवती आह्लादिनी की जागृति के लिए वह गौणी भक्ति का अभ्यास करता रहा, उसका फल उसे प्राप्त हो जाता है तथा भक्त की स्थिति वेध भक्ति में स्थापित हो जाती है। उसके चित्त में सञ्चित संस्कारों तथा वासनाओं का वेध आरम्भ होकर चित्त-शुद्धि का क्रम शुरू हो जाता है। तब वह साधन करने वाला केवल अणु मात्र जीव नहीं रहता; अपितु भगवान् की माया को उतारने के लिए ईश्वरीय शक्ति ही कार्यरत हो उठती है। उसका साधन सब आवश्यकताओं से स्वतंत्र हो जाता है। किसी भी स्थिति में, पवित्र या अपवित्र अवस्था में, देश या विदेश में, रुग्ण अवस्था या स्वस्थावस्था में उसका साधन कभी खण्डित नहीं होता। उसके अन्तर में एक ऐसी सत्ता का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है जो फिर कभी भी अदृश्य नहीं होती। उसे सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, व्यवहार करते प्रतिक्षण उस सत्ता के अस्तित्व एवं क्रियाशीलता की अनुभूति होती रहती है। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि उस का लक्ष्य उस अन्तर्जागृत सत्ता की क्रियाओं की ओर बना रहे। प्रायः लोग भगवती आह्लादिनी की प्रतिक्षण घटित होने वाली क्रियाओं के प्रति उदासीन होकर जगत् के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में उनके अन्दर क्रियाओं की अनुभूति भी समाप्त हो जाती है। इतना ही नहीं, कई लोगों में उसकी क्रियाशीलता रुक भी जाती है और जगत् में अत्यधिक आसक्त होने के कारण इस ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। ऐसे लोग जगत् में खाने, पीने एवं विषयोपभोग में हा मस्त रहते हैं।

आह्लादिनी की जागृति के पूर्व तथा पश्चात् समर्पण मुख्य

साधन होता है। साधक प्रायः गुरु-वरण तो करते हैं, किन्तु गुरु के प्रति उनके चित्त में समर्पण का भाव नहीं रहता। वे अपना अलग स्वतंत्र व्यक्तित्व बना कर रखते हैं। गुरु की सेवा का भाव उनके मन में नहीं रहता अर्थात् गुरु प्रदत्त साधना के अधिकाधिक विकास की ओर से वे उदासीन रहते हैं। परिणामतः उनकी क्रियाओं का विकास एवं साधन की गति रुकी रहती है। अतः साधक के लिए गम्भीर रहना, क्रिया पर ही लक्ष्य रखना एवं समर्पण-भाव साधन के लिए अनिवार्य तथा आवश्यक हैं।

साधकों या भक्तों की उन्नति की तीन गतियाँ कही गयी हैं—चींटी, बन्दर तथा पक्षी जैसी। चींटी धीरे-धीरे ऊपर अग्रसर होती हुई वृक्ष की चोटी पर पहुँच जाती है। बन्दर एक डाल से दूसरी डाल पर कूदता हुआ चोटी पर जा पहुँचता है और पक्षी एक ही उड़ान में सीधे चोटी पर जा बैठता है। अर्थात् मन्द, मध्यम एवं तीव्र—ये उन्नति की तीन प्रकार की गतियाँ हैं। इन तीनों प्रकार की गतियों के तीन-तीन भेद भी कहे गये हैं। वे हैं—मन्द, मन्दतर और मन्दतम। मध्यम, मध्यम-मध्यम तथा मन्दमध्यम; तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम। इन गतियों का आधार निम्न तीन बातों पर निश्चित् होता है—

(१) भक्त की दीक्षा किस स्तर की हुई है अर्थात् उसकी जागृत आल्हादिनी शक्ति की क्रिया किस गति से कार्यशीला होना आरम्भ हुई है?

(२) वैराग्य अर्थात् भक्त ने अपना मन किस सीमा तक विषयों से हटा और उसे किस सीमा तक भगवान् में लगा लिया है?

(३) भक्त कितना भजन करता है तथा उसके कर्म में सेवा-भाव कितना विकसित हुआ है ? यदि भक्त शीघ्रातिशीघ्र दुःखों से त्राण चाहता है, अपना चित्त शुद्ध करना चाहता है और अपने चित्त में भगवान् के प्रेम का भाव उत्पन्न करना चाहता है तो उसे उपरोक्त तीनों विषयों पर गम्भीरता से विचार करना तथा अपने कर्त्तव्य का निश्चय करना आवश्यक है।

भक्ति की दृष्टि से आह्लादिनी शक्ति जागृत होने पर निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं। इन लक्षणों में से एक अथवा अनेक लक्षण प्रकट होने पर समझ लेना चाहिए कि भक्त की आह्लादिनी शक्ति जागृत होकर कार्यशीला हो गयी है --

(१) कर्तृत्वाभिमानयुक्त भजन-कीर्त्तन करने के स्थान पर साधक को अपने मुख से स्वतः ही कोई भजन, स्तोत्र-पाठ अथवा कीर्त्तन होता हुआ प्रतीत हो अथवा होना आरम्भ हो जाय।

(२) उसका हृदय स्वतः ही गद्गद् हो उठे, नेत्रों से अश्रुपात होने लगे, वह भाव-विभोर हो उठे, उसके शरीर में रोमाञ्च पैदा हो जाय।

(३) साधक के शरीर में स्वतः ही कम्प होने लगे, मेंढक की तरह उछलने लगे और रोकने पर भी न रुके।

(४) साधक का शरीर चक्की की तरह घूमने लगे अथवा आगे-पीछे या दायें-बायें डोलने लगे या शिर घूमने लगे।

(५) साधन पर बैठने पर भगवान् के किसी स्वरूप विशेष, गुरुजनों, महात्माओं, महापुरुषों, पहाड़ों, नदियों, सरोवरों, मन्दिरों, पुष्पों अथवा विभिन्न रंगों के दर्शन बिना किसी प्रयास के अपने आप होने लगें।

(६) अन्तर में किन्हीं प्रश्नों के उत्तर स्वतः ही आने लग जावें, भगवान् के प्रेमभाव में विभोर होकर शरीर नृत्य करने लगे, भगवान् के समक्ष रो-रोकर विभिन्न प्रार्थनाएँ होने लगें तथा ऐसा करते-करते भूमिपात हो जाय या शरीर पृथ्वी पर लोट-पोट होने लगे।

(७) अपने आप अन्तर से ज्ञान, वैराग्य, योग, नीति, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित दोहे, पद अथवा कवित्व प्रस्फुटित होने लगें।

(८) विभिन्न प्रकार की शास्त्रीय राग-रागिनियाँ (चाहे साधक ने पूर्व में संगीत का अभ्यास किया हो अथवा नहीं) अन्तर से स्वतः निकलने लगें और साधक आलाप लेते या गायन करते समय संगीत की ही भाँति हाव-भाव प्रदर्शित करने लगे, मुँह से तबले के बोल निकलने लगें।

(९) शरीर स्वस्थ्य होते हुए भी शरीर में हलकापन या भारीपन लगे, ठण्ड या गरमी की अनुभूति होने लगे, शरीर में चींटियों के चलने जैसी सरसराहट होने लगे अथवा रोमाञ्च होने लगे अथवा अत्यधिक स्वेदन होने लगे।

(१०) अन्तर में बिना ध्यान किये ही सूर्य, चन्द्र, तारे, प्रज्ज्वलित अग्नि, दीपक की लौ, रक्त, श्वेत अथवा पीला इत्यादि तीन प्रकाश दिखायी देने लगें।

(११) बिना प्रयत्न ही अन्तर में ढोल, मृदङ्ग, बाँसुरी, घण्टे, बिगुल, चिड़ियों का चहकना इत्यादि शब्द अपने आप सुनाई देने लगें।

(१२) भजन में बैठने पर कुत्ता, बिल्ली, गाय, बकरी,

शेर, तोता, कौवा इत्यादि विभिन्न जानवरों की बोलियाँ अपने अन्तर से स्वतः ही प्रस्फुटित होने लगें।

(१३) साधना में बैठने पर अन्तर से वेद मन्त्र, सन्तों की वाणी, शास्त्रों के सदुपदेश अपने आप ही प्रकट होने लगें।

(१४) भगवान् के विभिन्न ज्ञात अथवा अज्ञात स्वरूपों के नामों एवं मन्त्रों का विना जप किये ही उच्च स्वर से मुँह अथवा मन से अपने आप ही जप होने लगे।

आह्लादिनी शक्ति की जागृति के लक्षण हजारों, लाखों प्रकार के हैं। उनका पूर्ण वर्णन या नामकरण करना सम्भव नहीं है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जिन साधकों को योग के लक्षण प्रकट होते हैं, उनमें भक्ति के ये लक्षण प्रकट नहीं होते। कुण्डलिनी अथवा आह्लादिनी शक्ति के जागृत होने के पश्चात् भक्ति, योग, ज्ञान इत्यादि का वर्गीकरण समाप्त हो जाता है तथा सभी साधनाओं का समावेश एक ही साधन में हो जाता है। इसीलिए शक्ति-जागृति के पश्चात् स्वतःसिद्ध साधन को महायोग की संज्ञा दी जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक क्योंकि भक्ति की दृष्टि से लिखी जा रही है, इसलिए यहाँ पर केवल भक्ति के भाव, विचार एवं क्रियाओं का ही उल्लेख किया जा रहा है।

नारद भक्तिसूत्र में उदाहरण स्वरूप बृज-गोपिकाओं का उल्लेख किया गया है जिनमें भक्ति एवं कर्म का समन्वय था। जितने उत्साह से वे साधना की ओर अपना लक्ष्य रखती थीं, उतने ही उत्साह से कर्तव्य समझकर कर्म भी करती थीं। उनके घर-द्वार थे, पति एवं बच्चे थे, गौएँ थीं। वे सबकी सेवा

करती थीं, घर का सब काम-काज करती थीं, किन्तु आसक्त होकर नहीं,—कर्तव्य समझकर। उनके मन में जितना भी प्रेम था, वह भगवान् के प्रति था। यही परमप्रेमरूपा भक्ति का स्वरूप है।

आज जगत् में जो आध्यात्मिक उन्नति का ह्रास दिखायी देता है, उसका मुख्य कारण यही है कि साधक न तो अध्यात्म के प्रति गम्भीर हैं और न ही अपने कर्म के प्रति निष्ठावान्। यदि कोई कर्म में रुचि लेता भी है तो आसक्तियुक्त होकर। कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म तो आज लोगों की समझ में ही नहीं आता। सेवा-भाव से निष्काम कर्म को शास्त्रों के उल्लेख तक सीमित समझा जाता है। भगवान् का भजन भी कामनायुक्त होकर किया जाता है। यदि कामनाएँ पूरी नहीं होतीं तो भगवान् को अपशब्द कहे जाते हैं। यदि कोई गम्भीरतापूर्वक अध्यात्म में रुचि लेता भी है तो वह कर्म की उपेक्षा कर जाता है। कर्मयोगी हुआ तो भगवद्भजन की कोई आवश्यकता अनुभव न करते हुए उधर से मुंह मोड़ लेता है। परिणामतः न तो कर्म और व्यवहार ही अच्छी तरह हो पाता है और न ही भगवद्भजन। साधना के इन दोनों बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग का समन्वय करने पर जैसे-जैसे चित्त शुद्ध होता जाता है, कर्म के प्रति कर्तव्य-अकर्तव्य का भाव लुप्त होता जाता है, वैसे ही वैसे कर्म का लोप तथा आध्यात्मिकता की वृद्धि होती जाती है। अतः साधना के साथ-साथ कर्म के प्रति गम्भीरता एवं पूरी ईमानदारी की तब तक आवश्यकता है जब तक कि कर्म का भाव चित्त में से स्वतः विलीन नहीं होता।

साधन में धैर्य एवं उत्साह की नितान्त आवश्यकता है। लोग साधना तो करते हैं, किन्तु उसके फल के प्रति धैर्यवान्

नहीं होते। जब हम कहीं जाते हैं अथवा सत्सङ्ग करते हैं तो लोग समाधि तथा जीवनमुक्त अवस्थाओं के बारे में बातें करते हैं, जबकि उन्हें अभी ऐसे प्रश्नों का अधिकार प्राप्त नहीं होता है। उनकी आध्यात्मिक स्थिति के अनुकूल ही उनका अधिकार भी होता है। यदि साधक उससे आगे का प्रश्न अथवा चर्चा करता है तो यह उसके अनधिकार-प्रदर्शन तथा धैर्य के अभाव का द्योतक होता है। इसीलिए शास्त्र साधन का फल भगवान् पर छोड़ कर साधन करने का निर्देश देते हैं। यह धैर्य केवल साधन के फल के प्रति ही होना चाहिए। साधन करने में तो पूर्ण उत्साह की आवश्यकता है। यदि धैर्य के अभाव में साधन के प्रति उत्साह-हीनता बढ़ गयी, तब साधना ही छूट जायेगी। इस विषय में साधकों को विचार कर अपना कर्त्तव्य निश्चित् करना आवश्यक है।

आज के युग को देखते हुए साधना में मन लगाना कठिन अवश्य है, क्योंकि जगत् में चारों ओर माया रूपी आकर्षण तथा भौतिक समस्याओं का प्रसार है। मन जब तक इन समस्याओं के निदान में जुटा रहता है, तब तक तो समस्याएँ सुलझने की आशा बनी रहती है, किन्तु जहाँ मन इन समस्याओं से लापरवाह होकर भगवान् की ओर मुड़ा कि आशा का घेरा हट जाने से ये चारों ओर से घेरकर खड़ी हो जाती हैं। जैसे कैदी के जेल से भागने पर जेल के रक्षक उसके पीछे पड़ जाते हैं, उसे भागने न देने में तत्पर रहते हैं, इसी प्रकार जीव भी माया का कैदी है जिसका वर्णन सूरदास ने निम्न पद में किया है—

"हरि तेरो भजन कियो न जाई।
कहा कहौं तेरी प्रबल माया देति मन भरमाई॥

जबै आवो साधु-संगति कछुक मन ठहराई।
ज्यों गयंद अन्हाइ सरिता बहुरि बहे सुभाई॥
वेष धरि धरि हरयो पर धन साधु साधु कहाई।
जैसे नटवा लोभ कारन करत स्वांग बनाई॥
करो जतन न भजौं तुमको कछुक मन उपजाई।
सूर प्रभु की सबल माया देति मोहि लुभाई॥

"हे हरि! आपका भजन नहीं किया जाता। क्या कहूँ? आपकी माया अत्यन्त ही प्रबल है। मन को भ्रमित कर देती है। सन्त-साधुओं तथा महापुरुषों की सङ्गत में जाने पर कुछ मन शान्त तथा स्थिर होता है, परन्तु जिस प्रकार हाथी नदी में स्नान करके फिर धूल को ही अपने ऊपर डाल लेता है, वैसे ही मेरे मन का भी मूल स्वभाव पुनः लौट आता है। साधु-साधु कहलाता है, पर साधु का वेष धारण कर यह दूसरों के धन को हरण करने में उसी तरह लगा रहता है जैसे नट लोभ के कारण भाँति-भाँति के स्वाँग रचता है। मैं प्रयत्न तो बहुत करता हूँ, मन में कुछ भाव भी उदय होते हैं, किन्तु, हे प्रभो! तुम्हारा भजन नहीं हो पाता। सूरदास कहते हैं कि स्वामी की माया बड़ी प्रबल है जो मुझे उलझा-फँसाकर मोहित कर देती है।"

भाव यह है कि कलियुग में प्रकृति की गति अत्यन्त तीव्र होती है। घटनाक्रम तेजी से बदलता रहता है। भाँति-भाँति के आकर्षण चारों दिशाओं में फैले रहते हैं जिनमें आकर्षित होकर जीव माया में उलझा रहता है। आयु अल्प हो जाती है जो प्रकृति के रङ्ग-ढङ्ग तथा हाव-भाव देखने में ही व्यतीत हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में भगवद्भजन अति कठिन होता है। किन्तु दूसरी ओर यह भी उतना ही सत्य है कि कलियुग में

किया गया साधन, भजन अधिक फलदायी होता है। माया रूपधारी ईश्वरीय शक्ति प्रसवक्रम में जितनी तीव्रता से नीचे की ओर अग्रसर होती है, अन्तर्मुखी जागृत होने पर वह प्रति-प्रसव क्रम में ऊपर की ओर चढ़ना आरम्भ करके उतनी ही तीव्र गति से चित्त के संस्कारों, विकारों का भेदन करती हुई आत्मा से मिलने के लिए बढ़ती है। इसके लिए जगत् के आकर्षण का त्याग, अपने अन्तर की ओर देखने की वृत्ति तथा भगवत् भजन का स्वभाव विकसित करना अत्यन्त कठिन होता है।

शक्ति के जागृत होने के उपरान्त भी भक्त के चित्त में विषयों का आकर्षण तत्काल समाप्त नहीं हो जाता। वह माया में भ्रमित रहता है, क्योंकि आह्लादिनी शक्ति की जागृति तो गुरु-कृपा से हो जाती है, किन्तु भक्त के चित्त में सञ्चित जगदाभिमुखी संस्कार तथा वासनाएँ उसका मार्ग अवरुद्ध करने में प्रतिक्षण तत्पर रहती हैं। केवल भगवान् के प्रति अधिकाधिक प्रेम एवं समर्पण का भाव ही वर्तमान मायावी जगत् के बन्धन से छुड़ाने में सक्षम हो सकता है।

माया की दृढ़ पकड़ की चर्चा करते हुए सूरदासजी पुनः इसी बात को दोहराते हैं—

"फिर फिर ऐसोई है करत।
जैसे प्रेम पतंग दीप सौं पावक हू न डरत॥
भव दुःख कूप ज्ञान करि दीपक देखत प्रकट करत।
काल व्याल रजतमविष ज्वाला कत जड़ जेतु जरत॥
अविहित वाद विवाद सकल मत इन लगि भेष धरत।
इहि विधि भ्रमत सकल निसि दिन गत कछु न काज सरत॥
अगम सिंधु जतननि सजि नौका हठि क्रम भार भरत।
सूरदास व्रत यहै कृष्ण भजि भव जलनिधि उतरत॥

"मनुष्य बार-बार जगत् के विषयों के पीछे भागता है। जिस प्रकार पतंगा दीपक की ओर आकर्षित होता है तथा अग्नि में जल मरने की संभावना से बेपरवाह दीपक की ओर बढ़ता जाता है, ऐसे ही जीव भी यह समझते हुए भी कि जगत् के विषयों में सुख नहीं है, विषयों के प्रति आसक्त होकर उनके प्राप्त्यर्थ अपना जीवन होम देता है। यदि जीव ज्ञान की दृष्टि से जगत् के विषयों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे स्पष्ट दिखायी देता है कि विषय सांसारिक दुःख रूपी कुए के समान हैं, किन्तु फिर भी जीव उसी कुए में गिरने तथा गिरे रहने में ही अपना कल्याण एवं आनन्द समझता है। पता नहीं क्यों जीव कालरूपी सर्प, रजोगुण तथा तमोगुण रूपी विष की ज्वाला में जलने में आनन्द समझता है? शास्त्र के विपरीत वाद-विवाद के लिए तैयार रहता है। भ्रमवश विषय-संचय के लिए भागता फिरता है, किन्तु फिर भी उसका कोई कार्य पूर्ण नहीं होता अर्थात् उसे कभी भी शान्ति नहीं मिलती। संसार-सागर अगम है। इसमें अपनी पुरुषार्थ की नौका सजाकर मन हठपूर्वक अपने कर्मों, सम्पत्ति, परिवार, शरीर इत्यादि के प्रति आसक्त होकर उनका बोझा ढोता रहता है। सूरदास कहते हैं कि परम-प्रेमी भक्त का तो यही निश्चय है कि कृष्ण का भजन करते हुए संसार-सागर से पार उतर जाना है।"

कितना स्पष्ट दृष्टिकोण है सूरदास जी का! भगवद्भजन अर्थात् आह्लादिनी शक्ति का अन्तर्मुखी जागृत होकर क्रिया-शीला होना ही वास्तविक श्रेय-मार्ग है। साथ ही स्वकर्तव्य कर्म को भी भजन का स्वरूप देते हुए कर्तव्य-बुद्धि से ईश्वर की सेवा समझकर करना ईश्वर के भजन की ही कोटि में आता है। तात्पर्य केवल यह है कि अपना जीवन आसक्ति, विषय-सञ्चय

में व्यतीत न करते हुए अपने आपको माया के गर्त से बचाया जाय ।

सूरदासजी एक बार फिर चेतावनी देते हुए इसे समझाते हैं—

"जा दिन मन पंछी उड़ि जैहे ।
ता दिन तेरे तरुवर के सबै पात झरि जै है ।।
या देही को गरब न करिये, स्यार काग गिद्ध खै है ।।
तीननि में तन कृमि के विष्ठा कै ह्वै खाक उड़ै है ।।
कहँ वह नीर कहँ वह सोभा, कहँ रंग रूप दिखै है ।।
जिन लोगनि सो नेह करत हैं तेहि देखि घिनै है ।।
घर के कहत सवारे काढौ भूत होई घरि खै है ।।
जिन पुत्र निहि बहुत प्रतिपाल्यौ देवि देव मनै है ।।
तेई ले खोपरी बांस दे सीस फोरि बिखरै है ।।
अजहूँ मूढ़ करौ सत संगति संतन में कछु पैहै ।।
नर बपु धारि नाहि जन हरि कौ जम की मार सो खै है ।।
सूरदास भगवंत भजन बिनु वृथा सुजनम गमै है ।।

"जिस दिन मन (सूक्ष्म शरीर) रूपी पक्षी वृक्ष छोड़ कर उड़ जायेगा, उस दिन तेरे वृक्ष-शरीर के सभी पात झड़ जायेंगे। इस नश्वर देह का अभिमान मत करो, क्योंकि अन्त में इसे स्यार, कौवे, गिद्ध ही खाते हैं।

"यह शरीर या तो कीड़ा या विष्ठा अथवा भस्म—इनमें से किसी भी एक गति को प्राप्त होता है। तब शरीर की यह चमक, शोभा अथवा रूप-रङ्ग कहाँ दिखायी देने वाले हैं। जिन लोगों से तुम प्रेम करते हो, वही तुम्हारे शरीर को देखकर उससे घृणा करेंगे। घर वाले कहेंगे कि इसे शीघ्र हटाओ,

नहीं तो भूत बन कर खा ही न जाय। जिन पुत्रों के लिए देवी-देवताओं की मान्यताएँ मान-मान कर उनको पाल-पोस कर बड़ा किया, वही मरणोपरान्त खोपड़ी पर बाँस मार कर उसे बिखरा देंगे। हे मूढ़! अभी भी सत्सङ्गति कर ले, क्योंकि सन्तों में रहने पर ही तुम्हें कुछ प्राप्त होगा। मनुष्य शरीर धारण करके भी तू हरिभक्त नहीं बन सका तो तुझे यमदूतों की यातनाएँ ही सहनी पड़ेंगी। सूरदास जी कहते हैं कि भगवान् के भजन के बिना तू व्यर्थ ही अपना जन्म नष्ट कर देगा।"

नारदोक्त परमप्रेमरूपा भक्ति

भक्ति के सम्बन्ध में 'कुण्डलिनी सिद्ध महायोग' में यह बतलाया जा चुका है कि हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग तथा लय-योग—इन चारों का समावेश एक ही योग में होने के कारण उसे महायोग नाम दिया गया है। यहाँ यह दर्शाने का प्रयत्न किया जायेगा कि इन चारों योगों का समावेश हो जाने पर भी महायोग का स्वरूप तब तक विकसित नहीं होता जब तक कि इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग एवं उपासना इत्यादि का भी समावेश न हो जाय। अर्थात् शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होने पर क्रियाओं में जब हृदय के आधार पर प्रेम-भाव, वियोग अथवा समर्पण के भाव प्रकट होते हैं तथा इनसे अभिभूत साधक रोना, गाना, अश्रुपात होना, नाचना, काँपना इत्यादि क्रियाओं का अनुभव करने लगता है तो उसे शक्ति की वास्तविक क्रियाशीलता कहा जाता है। ये सब क्रियाएँ स्वभावतः घटित होती हैं जिनका इस पुस्तक में यथा स्थान विवेचन किया जायेगा।

वास्तव में भक्ति का अर्थ परा भक्ति, परमप्रेमरूपा भक्ति अथवा परानुरक्ति है। जो भक्ति किसी कर्तृत्वाभिमानयुक्त कर्म के द्वारा सम्पादित होती है, वह गौणी भक्ति तो सकती है, परा भक्ति अथवा परमप्रेमारूपा भक्ति नहीं हो सकती—जैसे कि कर्त्तापन की भावना से युक्त होकर जप एवं पूजा-पाठ, कीर्त्तन इत्यादि। भक्ति किसी क्रिया विशेष का नाम नहीं है,

अपितु चित्त की एक स्थिति है। श्रीमद्भागवत् अथवा गीता के अध्ययन से साधक इस बात को भली भाँति समझ सकते हैं कि वहाँ पर भक्ति की जैसी व्याख्या की गयी है तथा जिस प्रकार उसके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे सब चित्त की स्थिति विशेष के द्योतक हैं। यहाँ भी नारदभक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र एवं श्रीमद्भागवत् इत्यादि के आधार पर इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

पराभक्ति का स्वरूप एवं लक्षण

नारद भक्ति सूत्र के सबसे प्रथम सूत्र में—

अथातो भक्ति व्याख्यास्यामः ॥१

स्पष्ट है कि नारदभक्तिसूत्र ग्रन्थ के अधिकारी सभी नहीं हैं, जिस प्रकार वेदान्त या ब्रह्मसूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से आरम्भ होता है तथा सभी वेदान्त के अधिकारी नहीं होते। ये शास्त्र 'अथ, अतः अर्थात् अब' यहाँ से आरम्भ होते हैं अर्थात् इससे पहले साधक कुछ कर चुका होता है तथा किसी अवस्था विशेष को प्राप्त कर चुका होता है। अतः अब आगे अमुक-अमुक शास्त्र का आरम्भ किया जाता है। महर्षि नारद जी कथित परमप्रेमरूपा भक्ति आह्लादिनी अथवा कुण्डलिनी शक्ति की जागृति के पश्चात् की स्थिति है। इसलिए जिस भक्त साधक को यह स्थिति प्राप्त है, वही इस पराभक्ति विषयक शास्त्र का अधिकारी है। इससे पूर्व जब तक साधक कर्त्तापन की भावना से युक्त किसी भी साधना विशेष का अभ्यास करता रहता है, तब तक उसकी भक्ति गौणी भक्ति ही होती है। जैसा कि गौणी शब्द से ही स्पष्ट है कि वह भक्ति मुख्य नहीं होती, अपितु अधिक विकसित पराभक्ति अथवा परमप्रेमरूपा-

आन्तरिक वास्तविक भक्ति को प्राप्त करने हेतु साधक का प्रयत्न अथवा हृदय की तड़प मात्र होती है।

नारद भक्ति की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।।२

अर्थात् वह तो इस ईश्वर के प्रति परमप्रेमरूपा है। 'वह तो' कहकर नारद जी ने गौणी भक्ति को परमप्रेमरूपा भक्ति से निकाल दिया है। गौणी भक्ति अर्थात् कर्तृत्वाभिमानयुक्त मन्दिर जाना, देवपूजन, जप-उपासना इत्यादि परमप्रेमरूपा भक्ति से इतर हैं। हम यह नहीं कहते कि गौणी भक्ति से कोई लाभ नहीं है। गौणी भक्ति का अभ्यास परमप्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति के लिए होता है। किन्तु खेद है कि वर्तमान समय में लोग आजीवन गौणी भक्ति के अभ्यास में ही लगे रहते हैं तथा उसी को भक्ति मान बैठे हैं। गौणी भक्ति में ईश्वर की कल्पना शरीर से बाहर की जाती है, जब कि परमप्रेमरूपा में ईश्वर अपने अन्तर में प्रत्यक्ष होता है और यही वास्तविक भक्ति है।

अध्यात्म-शास्त्रों में निर्गुण ब्रह्म के लिए 'तत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि यहाँ पर नारदजी को निर्गुण ब्रह्म की भक्ति अभिप्रेत होती तो सूत्र में 'तस्मिन्' शब्द होना चाहिए था अर्थात् वह ईश्वर जो दूर है और मनुष्य की कल्पना से अतीत है, जिसे देखा नहीं जा सकता। किन्तु नारदजी के मतानुसार ऐसे निर्गुण ईश्वर की भक्ति सम्भव ही नहीं है। शास्त्रों में यत्र-तत्र निर्गुण भक्ति का जो उल्लेख आता है, यदि उसे ध्यान से समझने का प्रयत्न किया जाय तो वास्तव में वह सगुण भक्ति ही है। निर्गण भक्ति करने के लिए पहले स्वयं निर्गुण

अवस्था में जाना पड़ता है। यदि साधक किसी प्रकार निर्गुण अवस्था में पहुँच जाय तो उसे किसी प्रकार की सगुण अथवा निर्गुण भक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। भक्ति सदैव द्वैत में ही सम्भव होती है। भक्ति करते-करते साधक की स्थिति अद्वैत में स्थापित हो जाती है।

आजकल प्रायः जिस भक्ति को सगुण कहकर प्रचारित किया जाता है, वह सगुण न होकर प्रतीक भक्ति है,—ऐसा हमारा मत है। प्रतीक सूर्य, चन्द्र, तारे, समुद्र, नदी, पहाड़, पुष्प, रङ्ग इत्यादि हो सकते हैं। यही वह भक्ति है जिसे वर्तमान उपदेशक सगुण भक्ति कहते हैं। सगुण भक्ति तो तब होती है जब आत्मा से प्रादुर्भूत तथा चित्त के तादात्म्य में आने वाली चैतन्य शक्ति जो कि त्रिगुणात्मक माया के अन्दर कार्य कर रही होती है, अन्तर्मुखी जागृत होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। जब तक शक्ति इन्द्रियों से अभिन्न अनुभव होती रहती है, तब तक शक्ति की प्रसुप्त अवस्था मानी जाती है। जब शक्ति की अनुभूति इन्द्रियों से भिन्न किन्तु इन्द्रियों के आधार पर कार्य कर रही प्रतीत होती है, तब शक्ति की जागृत अवस्था कही जाती है। तब साधक को वह ईश्वरीय शक्ति अपने चित्त के अन्दर सञ्चित संस्कारों के आधार पर कार्य करती हुई प्रत्यक्ष अनुभव होती है एवं ईश्वर कल्पना का विषय न रहकर प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हो जाता है। इसी को नारद जी ने यहाँ 'अस्मिन्' कहकर दर्शाया है। अर्थात् ईश्वर साधक के समक्ष प्रत्यक्ष एवं निश्चित् उपस्थित रहता है।

साधन करते-करते चित्त शुद्ध हो जाने पर शक्ति अपने से पुनः अभिन्न अनुभव होती है, किन्तु फिर भी उसकी सगुण

अवस्था बनी रहती है। जब आगे चलकर परा शक्ति माया का आवरण उतारकर आत्मा की ओर बढ़ जाती है, तब वह त्रिगुणातीत, मायातीत अवस्था को प्राप्त होती है।

परमप्रेमरूपा भक्ति

ईश्वरीय शक्ति जिसे भक्ति मार्ग में आह्लादिनी शक्ति कहा जाता है, के अन्तर्मुखी जागृत होने पर, साधक को उसकी अनुभूति होने लगती है जैसा कि सहजो बाई के निम्न पद से स्पष्ट है—

सखी री आज आनँद देव बधाई।
सतगुरु ने अवतार लियो है, मिलि मिलि मंगल गाई॥
अद्भुत लीला कहा बखानौं, मोपै कही न जाई।
बहु विधि बाजे बाजन लागे, सुनत हिया हुलसाई॥
धन भादौं धन तीज सुदी है, जा दिन प्रकटे आई।
धन धन कुंजो भाग तिहारे, चरनदास सुत पाई॥
कलिजुग में हरि भक्ति चलाई, जन की करे सहाई।
श्री सुकदेव करी जब किरपा, गावै सहजो बाई॥

इस अनुभूति के पश्चात् साधक शक्ति की उन क्रियाओं को आश्चर्यचकित होकर देखता रह जाता है। उसे यह भी समझ आ जाती है कि अभी तक वह जगत् के विषयों और भोगों में ही आनन्द एवं सौन्दर्य की कल्पना करता रहा है। अन्तर्शक्ति का आनन्द तो जगत् के आनन्द से अत्यधिक विशाल है। साधक के समक्ष यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि उसके कुछ नहीं करने पर भी कुछ घटित हो सकता है जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर पाता था। उसका शरीर तो आधार मात्र

या माध्यम अथवा यन्त्रवत् ही रह जाता है तथा क्रिया करने वाली शक्ति इस आधार से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव होती है। तब साधक के हृदय में अपने ही अन्तर में जागृत ईश्वर अथवा ईश्वरीय शक्ति के प्रति स्वभावतः ही प्रेम का भाव जागृत हो उठता है। हृदय में जागृत प्रेम अथवा अनुराग को नारद कथित परमप्रेमरूपा भक्ति अथवा महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार परानुरक्ति एवं श्रीमद्भगवत् गीता में वर्णित परा भक्ति कहा जाता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सूत्रकार सदैव ही एक-एक अक्षर तथा एक-एक मात्रा की यथासम्भव बचत करना चाहता है, तब यहाँ पर नारद जी ने प्रेम से पूर्व 'परम' क्यों जोड़ दिया ? इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य होगा। परम अथवा परा का अर्थ है—परे—माया से परे, जगत् से परे। अर्थात् परमप्रेम में जगत् का समावेश नहीं होता। जगत् की ओर से पूर्ण वैराग्य होता है। जगत् की इच्छाएँ, कामनाएँ, वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। परमप्रेम शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम होता है। भक्त ईश्वर से कुछ माँगता नहीं; अपितु अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पण करता चला जाता है। यहाँ तक कि अपना शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि भी भगवदार्पण कर देता है। इसी को साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा मन, बुद्धि, अङ्ककार—ये आठों अङ्ग भगवान् को समर्पित कर देता है। तब साधक के मन में केवल भगवान् का प्रेम अथवा भगवान् की सेवा ही शेष रह जाती है। जैसे-जैसे उसके चित्त में प्रेम बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे जगत् की ओर से वैराग्य परिपक्व होता जाता है। ऐसी अवस्था में भक्त और भगवान् आमने-सामने होते हैं। भगवान् के प्रति प्रेम बढ़ता जाता है। जब मन में परम प्रेम का भाव पूर्णत्व ग्रहण करता है एवं जगत् की ओर से 'पर-वैराग्य' का भाव उदय हो जाता

है, तब जगत् अथवा माया का आवरण हट जाता है। जगत् कर्त्तव्य कर्म के लिए क्षेत्र मात्र रह जाता है।

नारदवर्णित भक्ति वास्तव में अनन्य प्रेम है। अर्थात् मन अपने प्रियतम को छोड़कर अन्य किसी ओर आकर्षित नहीं होता। यह स्थिति तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक ईश्वरीय शक्ति आह्लादिनी की क्रियाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो जाती, क्योंकि उस के पूर्व जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है तथा जगत् में मनुष्य की आसक्ति एवं आकर्षण बने रहते हैं। आह्लादिनी की जागृति होने के उपरान्त जगत् के प्रति आसक्ति एवं आकर्षण का अभाव होना आरम्भ हो जाता है। यदि साधक भक्ति-साधना में तत्पर रहे तो यह भाव बढ़ता जाता है। जगत् के संस्कार क्षीण हो जाने पर चित्त में परमप्रेम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी अनन्य प्रेम को नारद जी ने 'अमृत स्वरूपा च' कहकर अमृत बताया है। भगवान् के प्रति समर्पण एवं अनन्य भाव अमृत के समान मधुर तथा सांसारिक दुःखों से मुक्त होने का अमोघ उपाय है।

जो ईश्वरीय शक्ति साधक में परमप्रेमरूपा भक्ति की स्थिति उदय होने पर अन्तर में जागृत होती है, वह जन्म-मरण से अतीत होने के कारण अमृतरूपा है। जब तक साधक में देहात्मबुद्धि बनी रहती है, तभी तक उसे जन्म एवं मृत्यु का भय रहता है। जब शक्ति देह से भिन्न प्रतीत होती है, तब जन्म-मरणात्मक देह अलग तथा अमर शक्ति भिन्न प्रतीत होती है। जैसे-जैसे साधक साधना करता जाता है, उसका अहंभाव चैतन्य अथवा शक्ति में स्थित होता जाता है। यही अमरत्व है।

अगले तीन सूत्रों में नारद जी ने परमप्रेमरूपा प्राप्त भक्त की स्थिति का वर्णन किया है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥४

अर्थात् जिस मनुष्य को परमप्रेमरूपा भक्ति का लाभ होता है, वह सिद्ध हो जाता है। अमर तथा तृप्त हो जाता है।

सिद्ध का अर्थ यह कदापि नहीं है कि साधक को योगिक सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है, वह आकाश में उड़ने लगता है अथवा पानी पर चलने लगता है। ये सिद्धियाँ तो त्याज्य हैं, हेय हैं। सिद्धियाँ जगत् के ही अङ्ग हैं। जो भक्त जगत् की ओर से वैराग्यवान् होकर प्रभु-प्रीत्यर्थ साधनारत होता है, वह भला नश्वर सिद्धियों के पीछे क्यों भागेगा? केवल इतना हा नहीं, यदि उसे अनायास ही कोई सिद्धि प्राप्त भी हो जाती है तो भी वह उसका उपयोग नहीं करता।

सिद्ध का अर्थ स्वाभाविक लिया जाता है। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य प्रायः जो कुछ भी चेष्टाएँ करता है, वे अस्वाभाविक होती हैं। किन्तु मनुष्य अपनी ही दिशा में जाने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य या जीव में अपनी कोई शक्ति नहीं होती। वह ईश्वरीय शक्ति को अपनी मानता है, अतः उसके मिथ्याभिमान से युक्त होकर कर्म करने का अस्वाभाविक ढोंग करता है। किन्तु जब ईश्वरीय शक्ति अन्तर्मुखी प्रतिप्रसव क्रम में जागृत हो जाती है और वह चैतन्य शक्ति मन के अधीन नहीं; अपितु सञ्चित संस्कारों के आधार पर क्रियाशीला होती है, तब शक्ति की क्रियाएँ स्वभावानुकूल एवं स्वतः घटित होती हैं। इसलिए साधक को ऐसा निर्देश

दिया जाता है कि वह शक्ति की क्रियाओं में किसी भी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक हस्तक्षेप न करे, उस शक्ति को स्वाभाविक क्रियाशीला रहने का अवसर प्रदान करे। जब साधक अपने मन से कोई साधना अथवा चेष्टा नहीं करता, तब कर्त्ता-पन के भाव के स्थान पर उसमें दृष्टापन आ जाता है और वह शक्ति की क्रियाओं को केवल देखता मात्र रहता है।

जब भक्त साधक साधनोन्मुख बैठता है तो स्वभावतः ही संस्कारों के आधार पर उसे रोना, अश्रुपात होना, हँसना, घूमना, कम्पन एवं इष्ट-दर्शन इत्यादि क्रियाएँ स्वतः होने लगती हैं। यही गौणी भक्ति एवं परमप्रेमरूपा भक्ति में अन्तर होता है। जहाँ एक ओर गौणी भक्ति का साधक कर्तृत्वाभिमानयुक्त वाह्य साधना करता है, वहीं परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त आन्त-रिक शक्ति से अभिभूत साधक की वाह्य शारीरिक क्रियाएँ अन्तर से वाहर की ओर स्वतः प्रगट होती हैं। यह सभी क्रिया-कौशल केवल संस्कारों को क्षीण कर चित्त को शुद्ध करने के लिए ही होता है। स्वाभाविकता, कर्तृत्वाभिमान का गलित होना, दृष्टा-भाव का उदय होना—ये सभी स्वयंसिद्ध क्रियाएँ 'आह्लादिनी शक्ति', जिसे योगियों ने कुण्डलिनी कहा है, के अन्तर्मुखी जागृत होने पर ही सम्भव होती हैं। वर्तमान युग में गौणी भक्ति को भी भक्ति का रूप देकर प्रचारित किया जाता है तथा उसे सरलतम साधन बताया जाता है। किन्तु हमारे विचार में जब तक मनुष्य को कुछ भी प्रयत्नपूर्वक करने की आवश्यकता बनी रहती है, तब तक उसका साधन स्वाभाविक नहीं होता। वह ईश्वर की कल्पना करता है एवं उसके प्रति काल्पनिक समर्पण करने का मिथ्याभिमान एवं प्रदर्शन करता रहता है।

इसी प्रकार जो ईश्वरीय शक्ति साधक में अन्तर्मुखी जागृत होती है, वह मृत्यु-भय तथा लोभ, मोह इत्यादि के संस्कारों को क्षीण कर चित्त पर पड़े माया के आवरण को उतारती जाती है और साधक की स्थिति आत्मा में स्थापित करने की ओर अग्रसर होती है। आत्मा अजर, अमर, अपरिवर्त्तनशील एवं नित्यानन्दस्वरूप है, जब कि शरीर मिथ्या, विनाशशील है। अतः शक्ति का स्वरूप होने के कारण ही अमरत्व-प्राप्ति के साधनरूप परमप्रेमरूपा भक्ति के सम्बन्ध में 'अमृतो भवति' अर्थात् 'भक्त अमरत्व को प्राप्त होता है'—कहा गया है।

जब तक आह्लादिनी शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति नहीं होती, तब तक साधक को सन्तोष नहीं होता। वह महात्मा, गुरु, सिद्धान्त, मंत्र और इष्ट बदलता रहता है। शक्ति जागृत होने पर भक्त के मन का असन्तोष तृप्ति में बदल जाता है तथा साधक विश्वासयुक्त होकर अपनी साधना में दत्तचित्त, तन्मय हो जाता है।

इस प्रथम सूत्र में जागृति के उपरान्त परमप्रेमरूपा भक्ति की कनिष्ठा स्थिति का उल्लेख है। अर्थात् आह्लादिनी शक्ति की जागृति परा भक्ति का निम्नतम स्तर है। कई लोग शक्ति की जागृति होने पर एकदम उच्च परिणामों की आशाएँ लगाते हैं और कई लोग तो समाधि होने तक की बातें करते हैं। किन्तु वे भ्रान्तिवश ही ऐसा करते हैं। शक्ति-जागृति की अवस्था साधना की अन्तिम अवस्था न होकर केवल प्रारम्भ मात्र है। अब अगले सूत्र में नारद जी मध्यमा भक्ति का उल्लेख करते हैं—

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥५

जिस (प्रेमस्वरूपा) भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी भी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे (विषय-भोगों की प्राप्ति में) उत्साह होता है।

समर्पण-भावयुक्त साधना करते-करते अर्थात् अन्तर में जागृत आह्लादिनी को कार्य करने का अवसर प्रदान करते रहने पर कालान्तर में साधक के चित्त के विकार एवं अन्तराय क्षीण होने लगते हैं तथा साधक के चित्त की स्थिति जगत् के प्रति ऐसी उदासीन हो जाती है कि वह न तो कुछ इच्छा करता है, न ही विषयभोग में उसकी रुचि रहती है और न ही उसे विषय-भोगों का सञ्चय करने में कुछ उत्साह ही रहता है। गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान् इसी स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् शक्ति की क्रियाओं के फलस्वरूप साधक के चित्त में सञ्चित संस्कार और वासनाएँ क्रियाओं के माध्यम से क्षीण हो जाती हैं। चित्त में से अहङ्कार, विषय-भोग के प्रति बल का प्रयोग, दर्प, काम, क्रोध एवं सञ्चयवृत्ति इत्यादि सब जलकर भस्म हो जाते हैं। तब चित्त की स्थिति ममता-रहित एवं शान्त हो जाती है। उसका चित्त भगवान् का भजन करने योग्य हो जाता है।

इसका अर्थ यह है कि शक्ति जागृत होकर सर्वप्रथम तो चित्त में सञ्चित अन्तरायों को क्षीण करती है। तत्पश्चात् चञ्चलता समाप्त होने पर चित्त ममता-रहित एवं शान्त हो

जाता है। तब उसका चित्त भगवान् का भजन करने के योग्य हो जाता है। योगदर्शन के निम्न सूत्र में भी इसी अवस्था का वर्णन है—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमः अन्तरायाभावश्च ॥

प्रत्यक् चेतना अर्थात् आह्लादिनी शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति होती है और अन्तरायों (चञ्चलता इत्यादि विघ्नों) का नाश होता है। अन्तराय-नाश शक्ति जागृत होने पर तत्काल नहीं हो जाता, अपितु दीर्घकालीन साधना से संस्कार-क्षय होने पर होता है। कुण्डलिनी या आह्लादिनी शक्ति की जागृति के अतिरिक्त संस्कार-क्षय का और कोई उपाय नहीं है।

संस्कारों से ही चित्त में वासना उदय होकर विभिन्न प्रकार के विकार एवं अन्तराय होते हैं। शक्ति की क्रियाओं के माध्यम से इन अन्तरायों के कारणस्वरूप संस्कारों के क्षीण हो जाने पर काम, क्रोधादि विकारों का भी स्वतः ही अभाव हो जाता है।

परा भक्ति की यह मध्यमा स्थिति है। साधना का ध्येय भी यही है कि साधक के जीवन में परिवर्तन आ जाय, उसके चित्त में विषयों के आकर्षण का अभाव हो जाय, निर्भयता आ जाय तथा वह भगवान् की शरण में रहना सीख ले। चित्त की यह स्थिति प्राप्त करना ही वास्तविक लक्ष्य है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शक्ति विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ साधक को कराती है। जब तक चित्त की उपरोक्त अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक साधक का चित्त जगत् के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। जब तक साधक अपने चित्त को जगत् से हटा नहीं लेता, तब तक उसका आत्मस्थिति का मार्ग प्रशस्त

नहीं होता। विषयों के प्रति आकर्षित होने का अर्थ यह है कि साधक अभी जगत् की ओर मुख तथा आत्मा की ओर पीठ किये खड़ा है। जब तक साधक आत्मोन्मुख नहीं होगा, तब तक आत्मा की ओर अग्रसर हो भी कैसे सकता है? उपरोक्त सूत्र का अर्थ यही है कि साधक ने जगत् की ओर से अपना मुँह मोड़ लिया है और अब आत्मा की ओर बढ़ने के लिए तैयार है।

अगले सूत्र में नारद जी उत्तमा परमप्रेमरूपा भक्ति का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥६

जिस (परमप्रेमरूपा भक्ति) को जान (प्राप्त हो) कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है, (और) आत्माराम बन जाता है।

परमप्रेमरूपा भक्ति के उदय होने पर भक्त उन्मत्त-सा हो जाता है। लोग कहते हैं कि वह पागल हो गया है, क्योंकि उसके प्रायः क्रिया-कलाप पागलों जैसे ही होते हैं। वह भगवत्प्रेम के नशे में चूर रहता है। कभी बैठे-बैठे खिलखिला कर हँस पड़ता है तो कभी रोने लगता है। कभी अपने आप कोई बात करने लगता है और कभी घूमने या झूमने लगता है। इस स्थिति का वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार आता है—

एवंव्रतः स्वप्रिय नाम कीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोक बाह्यः॥

अर्थात् इस प्रकार व्रत धारण कर भक्त अपने प्रियतम भग-

वान् के प्रति अत्यन्त प्रेमयुक्त हो जाने के कारण द्रवित चित्त हुआ उन्मत्त के समान कभी अट्टहास कर हँसता है, कभी रोता है, कभी ऊँचे स्वर से गाने लगता है और कभी नाच उठता है।

प्रभु-प्रेम की दीवानी मीरा ने भावावेश में अपनी इस स्थिति का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे ।।
मैं तो अपने नारायण की आपहि हो गई दासी रे ।
लोग कहैं मीरा भई बावरी न्यात कहै कुल नासी रे ॥

उपरोक्त स्थिति अस्वाभाविक नहीं है। भक्त अपने अन्तर में अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है। उसके अन्दर जाग्रत शक्ति उसके चित्त एवं शरीर को माध्यम अथवा यंत्र बनाकर विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करती है जिन्हें देखकर बाह्य जगत् के लोग भक्त को पागल समझने लगते हैं। भक्त कलात्मक ढङ्ग से नाचने का प्रयत्न नहीं करता, किन्तु उसके चित्त में नृत्य के प्रसुप्त संस्कार उदय होते हैं तो उसका शरीर अपने आप ही नाचने लगता है। इसी प्रकार से गायन, रुदन, अश्रुपात, अट्टहास, नाम-जप, चिल्लाना, उछलना, कूदना, ताली बजाना, कीर्तन करना, स्पष्ट-अस्पष्ट बोलियाँ बोलना, जानवरों की बोलियाँ बोलना इत्यादि को भी समझ लेना चाहिए। जब किसी बाहरी कारण के बिना ही साधक अट्टहास कर उठता है तो उसका कारण साधक के अन्दर होता है। किन्तु जगत् के लोग उसके अन्दर की चित्त की स्थिति को क्या समझें ? जब उन्हें बिना किसी कारण के साधक हँसता हुआ दिखाई देता है तो वे उसे पागल ही समझेंगे। अतः इस स्थिति का साधक जगत् की दृष्टि में तो पागल होता है, किन्तु उसके

अन्तर में ज्ञान का अथाह समुद्र हिलोरें लेता है। वह जगत् की अज्ञानता पर हँसता है तथा अपने में मस्त रहता है।

जो साधक थोड़ी देर पहले पागलों जैसे क्रिया-कलाप करता था, जिसे विभिन्न प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएँ हो रही थीं, वही सहसा आनन्द-मग्न होकर तथा चित्त की निर्विषय अवस्था धारण कर शान्त बैठ जाता है। यह समझ पाना अत्यन्त कठिन होता है कि क्या यह वही व्यक्ति है अथवा कोई अन्य ? इसका अर्थ यह है कि उसके चित्त में विभिन्न प्रकार के संस्कार उदय होते-होते एक दम चित्त में शान्ति एवं आनन्द के अथवा किसी एक विषय पर एकाग्रता के संस्कार उदय हो जाते हैं जिनसे उसका चित्त निर्विषय अथवा एक विषय पर एकाग्र होने से उसकी वाह्य शारीरिक क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं और वह स्थिर, शान्त, स्तब्धवत् बैठ जाता है।

पाठक यह देख ही रहे होंगे कि उपरोक्त सब क्रियाएँ आन्तरिक ईश्वरीय शक्ति आह्लादिनी की ही लीलाएँ हैं जो साधक की इच्छा से स्वतन्त्र, केवल उसके संस्कारों के आधार पर ही कार्य करती हैं। संस्कार बदल जाने पर क्रियाएँ भी बदल जाती हैं और इस प्रकार परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त साधक को अपनी ओर से कुछ भी करना शेष नहीं रहता। जब वह साधन में बैठता है तो भगवती भक्ति-शक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण भाव से ही बैठता है। तब जो, जैसी और जितनी क्रियाएँ साधक के लिए हितकारी होती हैं, वैसी ही क्रियाएँ साधक को शक्ति स्वयमेव तथा स्वभावतः ही कराती रहती है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अश्रुपात, डोलना,

कम्पन अथवा नृत्य आदि क्रियाएँ तो कई लोगों को कीर्तन में भी घटित होते देखी जाती हैं। क्या ऐसे लोगों को भी परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त साधक समझ लिया जाय अथवा उनकी स्थिति इससे कोई अन्य होती है ? इस सम्बन्ध में पाठकों को यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि ऐसे भक्तों में क्वचित् ही ऐसे साधक होते हैं जिन्हें परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त होती है। अधिकांश तो गौणी भक्ति को ही मुख्य मानते हैं। आह्लादिनी शक्ति वाह्य अनुकूलता की अपेक्षा नहीं करती। ऐसा साधक किसी एकान्त कक्ष में साधनरत होता है जहाँ न तो कोई भगवान् का चित्र, न शृङ्गार, न धूप, दीप और न ही कोई भजन-गायन होता है, तथापि भक्त को ये सभी क्रियाएँ अपने अन्तर से ही प्रकट होती हैं, जब कि गौणी भक्ति वाह्य अनुकूलता की अपेक्षा रखती है। भगवान् अथवा गुरुओं के चित्र समक्ष हों, उनका शृङ्गार किया हो, धूप-दीप जल रहा हो, वाजे-ढोलक पर भजन-गायन हो रहा हो—इन सब अनुकूलताओं के प्राप्त होने पर सहृदय साधक नाच अथवा झूम उठे तो इसमें आश्चर्य की कोई वात नहीं है। किन्तु जब वाजा-ढोलक बजना बन्द तथा भजन-गायन भी समाप्त हो जाता है, तब उस साधक की क्रियाएँ भी व द हो जाती हैं। ऐसी गौणी भक्ति के साधक को परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त साधक मानना उचित नहीं है।

'आत्मारामो भवति' अर्थात् ऐसा साधक आत्मरमण करता है। अब प्रश्न यह है कि आत्मरमण क्या अवस्था है ? इस विषय को समझने के लिए हमें योगदर्शन का सहारा लेना पड़ेगा जहाँ समाधिपाद के १७वें सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है—

वितर्क विचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् संप्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता—इन चारों के रूप के अनुगमन वाली सम्प्रज्ञात् समाधि कही गयी है।

वितर्क—जहाँ ध्यान का विषय स्थूल जगत् में से लिया जाय तथा उस पर चित्त एकाग्र भी हो जाय, अपना आपा शून्य हो जाय, उसे सवितर्क सम्प्रज्ञात कहा जाता है।

विचार— जब ध्यान का विषय कोई स्थूल पदार्थ न होकर कोई विचार होता है, उस पर चित्त एकाग्र हो जाता है तथा वृत्ति ध्येयाकार हो जाती है, तब उसे विचारानुगत संप्रज्ञात कहा जाता है। वितर्क तथा विचार दोनों दृश्य के अन्तर्गत हैं। अब दर्शन पर आते हैं।

आनन्द—किसी ध्येय पदार्थ पर चित्तवृत्ति एकाग्र होने पर आनन्द अथवा ज्ञान की अनुभूति होती है। उस आनन्द अथवा ज्ञान को ही ध्येय विषय मानकर चित्तवृत्ति का उस पर एकाग्र होकर ध्येयाकार होना आनन्द सम्प्रज्ञात कहलाता है। इससे आगे दृश्य तथा दर्शन से हटकर और अधिक अपने अन्तर की ओर आते हैं तथा दृष्टा को ही दृश्य बनाया जाता है।

सास्मिता—जब दृष्टा अर्थात् अस्मिता या अहङ्कार पर ही अपनी चित्तवृत्ति एकाग्र करने का प्रयत्न किया जाता है तथा उस पर चित्त एकाग्र हो जाता है तो उसे सास्मिता संप्रज्ञात कहा जाता है। जब इस प्रकार अभ्यास करते-करते चित्त पर्याप्त शुद्ध हो जाता है, तब चित्त के अन्दर देखने पर उसे चैतन्य की अनुभूति होती है। इसी चैतन्य के संयोग के कारण चित्त में अस्मिता का भाव उदय होता है। वही शक्ति चित्त में भी विद्यमान होती है। इस तरह से आत्मा की शक्ति से

आत्मा की शक्ति को देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही आत्मा को देखता है। तब साधक को चित्त में विद्यमान शक्ति की अनुभूति क्रियाओं से न होकर शक्ति के स्वरूप में होती है। इस अवस्था को 'आत्म-रमण' या 'आत्माराम' भी कहा जाता है।

इस अवस्था का वर्णन गीता के अठारहवें अध्याय में निम्न श्लोक में इस प्रकार किया गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो माम् तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

अर्थात् परा भक्ति के द्वारा वह मुझे तत्व से जानता है तथा तत्व के प्रभाव को भी जानता है। इस प्रकार ध्येय तत्व को जानकर मुझ में प्रवेश कर जाता है।

भगवान् के दर्शन साधकों को अनेक रूप, रंग, तथा आकृति में होते हैं। जैसे, किसी साधक को भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन ध्यान में होते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो यह दर्शन एक आकृति विशेष के रूप में होते हैं जो सीमाओं में वद्ध होती है। इसलिए इसे अनन्त भगवान् के दर्शन कदापि नहीं कहा जा सकता। दूसरे, भगवान् कृष्ण के ध्यान तथा एकाग्रता के संस्कार चित्त में उदय हो जाते हैं। अतः भगवान् कृष्ण के इस दर्शन को शक्ति की क्रिया ही कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जब साधक को शक्ति की अनुभूति क्रियाओं के द्वारा नहीं, अपितु शक्ति के स्वरूप में होती है, तब उसे भगवान् का दर्शन कहा जाता है तथा यही आत्माराम की अवस्था है। इसी अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् आगे चलकर जब आत्मा की चैतन्य शक्ति चित्त के साथ तादा-

त्म्य छोड़कर आत्मा में विलीन हो जाती है, तब भक्त साधक द्वत से अद्वैत में प्रविष्ट हो जाता है।

परमप्रेमरूपा भक्ति में अनन्यता

सा न काम्यमाना निरोधरूपत्वात् ॥

वह (प्रेमा भक्ति) कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोध-स्वरूपा है।

परमप्रेमरूपा भक्ति अर्थात् अन्तश्चेतना जागृत होने के पश्चात् की स्थिति में भगवान् के प्रति प्रेम तथा समर्पण का भाव बढ़ता जाता है। सकाम उपासना कामना की उपासना होती है। भगवान् गौण हो जाते हैं तथा कामना में आसक्ति होने के कारण अपने प्रयत्न अथवा उपासना का फल मन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल कैसा भी प्राप्त हो, चित्त में उसके संस्कार सञ्चित होकर चित्त मलीन हो जाता है और मनुष्य या जीव जगत् के प्रति अधिकाधिक आसक्त एवं आकर्षित होता जाता है। साधक भक्तों को इस बात का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है कि उनकी साधना में कामना का सभावेश न होने पाये। कामनायुक्त भक्ति साधना के स्वरूप और फल दोनों को परिवर्तित कर देती है। भक्ति का लक्ष्य जगत् के बन्धनों से जीव को छुड़ाना होता है, जबकि कामना का कार्य उसे बन्धनों में डालना होता है। अतः साधक भक्तों का कर्त्तव्य है कि अनुकूल अथवा प्रतिकूल फल के प्रति उदासीन होकर कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करता रहे।

कामनायुक्त एवं निष्काम दोनों भाव एक साथ नहीं चल सकते। कहा भी है—"जहाँ काम तहाँ राम नहिं, जहाँ राम

3147
12.10.07

नहीं काम"--अर्थात् जिस हृदय में भगवान् का प्रेम समाया होता है, उस में कामना नहीं ठहर सकती तथा जिस चित्त में कामनाओं का साम्राज्य होता है, उस में 'राम' नहीं रह सकता। अतः साधक का चित्त गीता के दूसरे अध्याय के निम्न श्लोक के अनुसार निर्मित होना चाहिए—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०

अर्थात् जिस प्रकार लाखों, हजारों वर्षों से नदियाँ चारों ओर से समुद्र में गिरती हैं, किन्तु अभी तक समुद्र को भर नहीं पायीं अर्थात् समुद्र अपनी सीमा का उल्लङ्घन नहीं करता। इसी प्रकार विषय चारों ओर से साधक पर आक्रमण करते हैं, किन्तु जिसका चित्त स्थिर रहता है, उसी को शान्ति प्राप्त होती है। कामनायुक्त मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं होती।

शक्ति के जगदाभिमुखी प्रवाह अर्थात् प्रसवक्रम में शक्ति जगत् में निर्माण-कार्य करती है। परिवार को पालना, धन कमाना, खेती-व्यापार करना—ये सब कामनाओं के खेल हैं। किन्तु प्रतिप्रसव क्रम में शक्ति जगत् में अपने कार्यों को समेटती है और आत्मा की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करती जाती है। इसी को निरोध कहते हैं अर्थात् जगदाभिमुखी संस्कारों को शान्त करते जाना तथा आन्तरिक आत्माभिमुखी संस्कारों का सञ्चय करना। जो साधक साधना के साथ-साथ कामनायुक्त भी होता है, वह भक्ति के आत्माभिमुखी मार्ग को अवरुद्ध करता है तथा अपने आध्यात्मिक उत्थान में विघ्न उपस्थित करता है।

अगले सूत्र में निरोध का स्वरूप और अधिक स्पष्ट करते हुए नारद जी कहते हैं—

निरोधस्तु लोक वेद व्यापार न्यासः ॥८

लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मों के त्याग को निरोध कहते हैं।

यहाँ पर कर्मों के त्याग का अर्थ कर्मों में आसक्ति का त्याग समझना चाहिए। क्योंकि जो साधक एक दम चित्त शुद्ध तथा निवृत्ति की स्वाभाविक अवस्था उत्पन्न हुए विना कर्मों का त्याग करने का प्रयत्न करता है, वह इसमें सफल नहीं हो पाता। चित्त में जगत् के प्रति तो आसक्ति के भाव हों और बाह्य रूप से जगत् का त्याग हो तो सफलता किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ? यदि चित्त में आसक्ति न हो तो जगत् का त्याग हो अथवा न हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। उस अवस्था में चित्त में संस्कारों के सञ्चय का क्रम रुक जाता है एवं पूर्व सञ्चित संस्कारों का निरोध होता जाता है।

आह्लादिनी शक्ति के संस्कारों के आधार पर क्रिया रूप में चित्त में प्रकट होने पर पूर्व सञ्चित संस्कारों का क्षय अर्थात् निरोध होने लगता है। अर्थात् जब तक कुण्डलिनी या आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होकर क्रियाशीला नहीं होती, तब तक सञ्चित संस्कारों का निरोध भी नहीं होता। निरोध को अगले सूत्र में और स्पष्ट किया गया है—

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥९

उस प्रियतम भगवान् में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता को भी निरोध कहते हैं।

वास्तव में भक्ति का अर्थ ही कामना रहित अनन्य भक्ति है। अनन्य का अर्थ अपने लक्ष्य का त्याग कर चित्त-वृत्ति का अन्य कहीं नहीं जाना है। इस प्रकार भगवान् का ही स्मरण करना, चिन्तन-मनन करना, भगवान् की ही क्रियाओं को देखना, भगवान् की सेवा समझ कर ही कर्म करना और अपने मन को इधर-उधर कहीं नहीं जाने देना—यही अनन्य भक्ति है। जिन कार्यों से भगवद्प्रेम में वृद्धि होती है, उन्हें करना तथा जिन कार्यों से भगवान् का विस्मरण होता हो, उनसे उदासीन होना निरोध कहा जाता है।

अब अनन्यता की व्याख्या करते हैं—

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥१०

दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है।

अनन्यता का अर्थ है—प्रियतम भगवान् को छोड़कर अन्य सभी आश्रयों का त्याग। इसी को भगवान् के प्रति समर्पणभाव भी कहा जाता है। जैसा कि हम पूर्व में कह आये हैं कि जब तक ईश्वरीय शक्ति साधक के अन्तर में जाग्रत होकर प्रत्यक्ष अनुभवगम्य नहीं होती, तब तक उसको कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। अनुभव न होने से उसका समर्पण अथवा अनन्यता भी काल्पनिक होती है। शक्ति जागृत होने के उपरान्त जब साधक अनुभव के क्षेत्र में पदार्पण करता है तथा ईश्वरीय शक्ति तथा उसकी क्रियाएँ अन्तर में प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाती हैं, तब अनन्यता का काल्पनिक आधार भी समाप्त हो जाता है। जगत् का कार्य सञ्चालन करने वाली शक्ति साधक के समक्ष प्रत्यक्ष हो जाती है। साधक को यह अनुभव भी हो जाता है कि उसके कुछ किये बिना भी कुछ घटित हो सकता

है। तब जगत् के अन्दर की सभी आशाएँ एवं आश्रय त्यागकर भक्त भगवदार्पण हो जाता है। यही अनन्यता है।

परमप्रेमरूपा भक्ति की फलरूपता

सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽस्यधिकतरा ॥२५

वह (प्रेमरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है।

परमप्रेमरूपा भक्ति कर्म, ज्ञान, योग तथा इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी प्रकार के साधन हैं, उन सब से ऊँची तथा उत्तम है। वास्तव में साधना के ये विभिन्न मार्ग शक्ति-जागृति अर्थात् परमप्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। ध्यान, उपासना, जप, अनासक्त कर्मयोग का अभ्यास, कीर्त्तन, भजन, पठन-पाठन इत्यादि सभी साधनाएँ इसी लक्ष्य के प्राप्त्यर्थ ही हैं। यदि साधक का लक्ष्य शक्ति-जागृति की ओर होता है तो उसे यह अवस्था अपेक्षाकृत शीघ्र प्राप्त हो सकती है। हमने कई ऐसे साधक भी देखे हैं जिनका शक्ति-जागृति की ओर लक्ष्य न होते हुए भी किसी साधना विशेष के अभ्यास मात्र से ही उनमें कालान्तर में शक्ति-जागृति के लक्षण प्रकट हो गये तथा उन्हें परमप्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति हो गयी। कर्त्ता-पन की भावना से युक्त होकर जितनी भी साधनाएँ, उपासनाएँ हैं, उन सभी का समावेश स्वयंसिद्ध साधन में हो जाता है क्योंकि जागृति के पश्चात् की अवस्था पूर्व की अवस्था से श्रेष्ठ होती है। इसी बात को अगले सूत्र में नारदजी जोर देकर पुनः कहते हैं—

फल स्वरूपात्वात् ॥२६

क्योंकि (वह भक्ति) फलरूपा है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, परमप्रेमरूपा भक्ति तो सभी साधनाओं का फल है। गौणी भक्ति तो साधारण उपासना मात्र होती है।

परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त करने के उपाय

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥३५

वह (भक्तिसाधन) विषयत्याग और सङ्गत्याग से सम्पन्न होता है।

प्रत्येक जीव के अन्दर परमात्मा अपने अंश आत्मा के रूप में अवस्थित है तथा आत्मा की शक्ति जीव के जड़ चित्त एवं जड़ शरीर को आलोकित एवं कार्यशील बनाती है। जीव के चित्त में आत्मा के ज्ञान एवं आनन्द का अखण्ड भण्डार भरा है। किन्तु जीव विषयों के प्रति लोलुपता, सङ्ग एवं आसक्ति के कारण चित्त में इतने संस्कार सञ्चित कर लेता है कि उनसे उत्पन्न वासना से सारा चित्त आच्छादित हो जाता है। तब वासना के कारण चित्त पर एक के पश्चात् एक कई आवरण पड़ते जाते हैं जिनसे चित्त का ज्ञान एवं आनन्द ढक जाता है। यदि जीव विषयों के सङ्ग अर्थात् आसक्ति का त्याग कर दे तो चित्त का आनन्द एवं ज्ञान प्रकट हो सकता है।

यदि जीव विषयों का स्वरूपतः त्याग करके आसक्ति का त्याग न करे तो भी बात नहीं बनती और यदि आसक्ति का त्याग करके विषयों का त्याग न करे तो भी उसके पतित होने की आशङ्का बनी रहती है। जब जीव विषयों का स्वरूपतः भी और उनकी आसक्ति का भी त्याग करता है अर्थात् जगत् के

प्रति वैराग्यवान् हो जाता है, तब उसके चित्त पर संस्कारों एवं वासनाओं का बोझ स्वभावतः ही कम हो जाता है जिससे चित्त में दबी हुई शक्ति को उभरने का अवसर प्राप्त होता है। इसी को आह्लादिनी शक्ति की जागृति कहा जाता है। आह्लादिनी शक्ति जागृत होकर चित्त में शेष संस्कारों को क्रियाओं के माध्यम से क्षीण कर देती है और साधक की चित्त-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नारदजी सर्व-प्रथम स्वप्रयत्न से आह्लादिनी जागृत करने का उपाय बतला रहे हैं। इन उपायों का अनुष्ठान करते-करते बहुत से संस्कार क्षीण हो जाते हैं तथा शेष बचे संस्कारों को जागृत होकर क्रियाओं के द्वारा शक्ति क्षीण कर देती है। इस प्रकार गौणी भक्ति तथा परमप्रेमरूपा भक्ति दोनों ही अपने-अपने स्थान पर अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, किन्तु यह आवश्यक है कि साधक अत्यन्त उत्साही एवं धैर्यशील हो अन्यथा इच्छित फल प्राप्त न होने पर साधना बीच में ही छूट जाती है। जब साधक दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अपनी साधना में तत्पर रहता है, तभी कालान्तर में उसे इच्छित फल प्राप्त होता है। अब आगे आह्लादिनी शक्ति जागृत होने का दूसरा उपाय बतलाते हैं—

अव्यावृत भजनात् ॥३६

अखण्ड भजन से (भक्ति का साधन सम्पन्न होता है)।

भगवान् का ध्यान, चिन्तन, मनन, श्रवण, गायन, जप, पठन-पाठन इत्यादि निरन्तर करते रहना अखण्ड भजन कहा जाता है। मन जिस स्थिति में रहता है, उसके संस्कार सञ्चय करता जाता है। जब मन जगत् के विषयों का चिन्तन करता

है तो जगत् के संस्कार सञ्चय करता है और जब भगवान् का चिन्तन करता है, तब भगवान् की नित्यता, चेतनता, अखण्डता, उदारता तथा समदर्शिता इत्यादि गुणों के संस्कार सञ्चैय करता है। चित्त में धीरे-धीरे जगत् के संस्कारों का निरोध होता जाता है और भगवद्ज्ञान के संस्कार बढ़ते जाते हैं। योगदर्शन में इसे निरोध परिणाम कहा गया है। जब जगत् अथवा व्युत्थान के संस्कारों का निरोध पर्याप्त मात्रा में हो जाता है, तब कालान्तर में एक समय ऐसा आता है जब साधक की आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत हो जाती है और साधक का कर्तृत्वाभिमानयुक्त साधन समाप्त होकर स्वतःसिद्ध साधन आरम्भ हो जाता है।

लोकेऽपि भगवद्गुण श्रवण कीर्तनात् ॥३७

लोक-समाज में भी भगवद्गुण-श्रवण और कीर्तन से (भक्ति-साधन सम्पन्न होता है)।

समूह में भजन-कीर्त्तन करना, लोगों को सद्मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करना, आध्यात्मिक शङ्काओं के समाधान का प्रयत्न करना अर्थात् समाज को आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर करने के प्रयत्न इत्यादि उपायों से भी आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत हो जाती है। वास्तव में साधक अपने प्रयत्न के परिणाम से उदासीन रहता है। समाज आध्यात्मिक मार्ग पर चलता है या नहीं, इस बात से उदासीन रहकर साधक को अपनी ओर से पूरी शक्ति लगाकर कुशलतापूर्वक किन्तु अनासक्ति भाव से इसके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। इससे उसके चित्त में निरोध परिणाम अर्थात् व्युत्थान के संस्कारों का निरोध एवं भगवान् के संस्कारों का सञ्चय होता है जिससे

आह्लादिनी शक्ति पर संस्कारों, वासनाओं का दवाव कम होकर उसकी अन्तर्मुखी जागृति का अवसर प्राप्त होता है।

यहाँ तक नारदजी ने पुरुषार्थ एवं प्रयत्नपूर्वक आह्लादिनी शक्ति की जागृति का वर्णन किया है। इसके पश्चात् गुरु-कृपा से परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त करने का उपाय वतलाते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥३८

अर्थात् परमप्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति का उपाय मुख्यतया तो महापुरुषों अथवा भगवान् की कृपा के लेशमात्र से सम्भव होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी विशेष प्रकार की साधना करते-करते साधक का यह अधिकार नहीं हो जाता कि शक्ति की जागृति होनी ही चाहिए। यदि भगवद्कृपा हो तो विना किसी साधना विशेष के अभ्यास के भी आह्लादिनी शक्ति की जागृति सम्भव है। साधक का अपना प्रयत्न, पुरुषार्थ तो गौण होता है। अथवा यों कहें कि प्रभु-कृपा-प्राप्ति के निमित्त उसके हृदय में तड़प होती है। जव तक कृपा प्राप्त नहीं होती, तव तक कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, उसे जागृतिरूपी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यदि भगवान् की लेशमात्र भी कृपा प्राप्त हो जाय तो आह्लादिनी की जागृति में क्षणमात्र भी नहीं लगता।

हमने कई साधक ऐसे भी देखे हैं जिन्होंने कोई साधना, उपासना नहीं की तथा जिनके जीवन में भगवान् नाम की कोई वस्तु नहीं रही, किन्तु उनकी आह्लादिनी अकस्मात् जागृत होकर क्रियाशीला हो गयी। ऐसे लोगों के विषय में इस के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि उनकी शक्ति पूर्व जन्म से ही जागृत थी, किन्तु किसी कारणवश उसने कार्य करना बन्द कर दिया था। इस जन्म में उन लोगों के विपरीत

संस्कार क्षीण हो जाने पर शक्ति ने पुनः कार्य करना आरम्भ कर दिया। जब बिना किन्हीं प्रकट कारणों के शक्ति जागृति के लक्षण प्रकट हुए तो उसे भगवान् की कृपा ही कहा गया।

आह्लादिनी की जागृति का दूसरा उपाय गुरुकृपा होता है। इस उपाय की शास्त्रों तथा सन्तवाणी में स्थान-स्थान पर महिमा गायी गयी है। किसी महापुरुष के अनुग्रह के फलस्वरूप आह्लादिनी शक्ति की जागृति के लक्षणों का प्रकट होना शक्तिपात कहलाता है। यहाँ भी इस उपाय को मुख्य कहा गया है, क्योंकि प्रयत्नपूर्वक साधनों के द्वारा शक्ति की जागृति के लिए धैर्यपूर्वक दीर्घकालीन एवं निरन्तर साधना की आवश्यकता है जो कि आज के मायावी युग में अत्यन्त कठिन है।

महापुरुष दया के सागर तो होते हैं, किन्तु श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनसे सङ्ग करना अत्यन्त दुष्कर होता है। जब ऐसे महापुरुष दयावान् होकर साधक की अन्तःचेतना जागृत करने हेतु चित्तशक्ति को आगे प्रसारित करते हैं तथा साधक की चित्तशक्ति उसके तादात्म्य में आती है तो अन्तर्मुखी जागृत होकर क्रियाशीला हो जाती है। शक्ति-जागृति का यह उपाय अत्यन्त सरल है, किन्तु इसको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसके प्राप्त होने पर मन अपने आप ही विषय-वासनाओं से उपराम होने लगता है। मन में निर्भयता आती जाती है तथा दिनों-दिन चित्त में आध्यात्मिक प्रकाश फैलने लगता है। इस विषय की गम्भीरता को देखते हुए दो-तीन बातें बतानी उपयुक्त होंगी।

(१) ऐसे समर्थ गुरु का उपलब्ध होना अत्यन्त कठिन है। संसार में गुरु तो बहुत मिल जाते हैं तथा वे व्यक्तित्व भी बहुत

ही चमत्कारिक बनाकर रखते हैं। वार्तालाप भी बहुत मधुर करते हैं। किन्तु उनमें शिष्य पर वास्तविक कृपा तथा उसका मार्गदर्शन करने की क्षमता नहीं होती। इसे शिष्य का सौभाग्य ही कहा जायेगा कि उसे दयालु, शक्ति-सम्पन्न तथा उसके हितचिन्तक गुरु उपलब्ध हो जायें।

शिष्य वैसे तो पूर्ण अधिकारी होना चाहिए, किन्तु आज के युग में अधिकारी शिष्य मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि शिष्य में दीक्षा के योग्य गुण न भी हों, तो भी उसमें साधना के लिए लगन तो होनी ही चाहिए। यदि चित्त में उचित आकांक्षा विद्यमान् हो तो दीक्षा प्राप्त होने के उपरान्त निरन्तर नियमित साधना करते रहने से क्रियाओं के माध्यम से शक्ति साधना के अनुकूल चित्त स्थिति निर्मित कर देती है। किन्तु खेद यह है कि गुरुकृपा प्राप्त होने पर भी साधक प्रमादवश उस कृपा का लाभ नहीं उठा पाते। परिणामतः कृपा प्राप्त होना-न-होना एक समान हो जाता है।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥३९

परन्तु यहाँ महान् पुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। यदि कोई ऐसे सामर्थ्यवान् महापुरुष उपलब्ध भी हो जायें तथा उन पर श्रद्धा भी जम जाय तो भी उनका संग प्राप्त होने में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। महापुरुषों का संग दो स्तरों पर प्राप्त होता है।

पहला, उस महापुरुष विशेष के सत्संग में जाना, उनके पास बैठ कर भगवच्चर्चा सुनना, उनकी सेवा करना तथा यदि उनके द्वारा कुछ लिखित साहित्य हो तो उसे पढ़ना।

दूसरा, उनकी कृपा प्राप्त कर अपनी शक्ति को अन्तर्मुखी जागृत करना तथा उसे कार्यशीला बनाना। ये दोनों प्रकार के सङ्ग अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। कभी प्रमाद, कभी मन उचाट हो जाता है। कभी शंकाएँ पैदा हो जाती हैं, कभी उस महापुरुष के आस-पास के वातावरण से साधक अपना तालमेल बिठाने में असमर्थ रह जाता है। इसीलिए महापुरुषों के संग को अगम्य तथा अमोघ कहा गया है।

लभ्यतेऽपितत्कृपयैव ॥४०

अर्थात् महापुरुषों का संग भी भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है।

मनुष्य जब सत्सङ्ग पाने में असमर्थ रहता है, तब अपनी असमर्थता का कारण भगवान् के शिर पर डालकर प्रारब्ध को दोष देता है और यदि सफल होता है तो अपने पुरुषार्थ को हेतु मानता है। यही साधक की भूल होती है। महापुरुषों का सङ्ग तो साधक की अपनी चित्तस्थिति अनुकूल होने पर ही मिलता है, किन्तु चित्त की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का ज्ञान उसे नहीं होता। अतः ईश्वर-कृपा पर ही बात समाप्त करनी होती है। साधक को अपनी ओर से पूरा-पूरा प्रयत्न करना होता है। यदि उसे सत्सङ्ग प्राप्त हो जाय तो उसका श्रेय भगवत्कृपा को देना चाहिए। अन्यथा साधक में अभिमान जागृत होने से सत्सङ्ग निष्फल हो जायेगा।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१

अर्थात् भगवान् और उन महापुरुषों में भेद का अभाव होता है। वास्तव में महापुरुष उसी को कहते हैं जिसके अन्तर में

ईश्वरीय शक्ति जागृत, प्रकाशित एवं क्रियाशीला हो। महापुरुष में जागृत शक्ति के इसी स्तर को गुरुतत्व भी कहा जाता है तथा वास्तव में यही जागृत शक्ति गुरु होती है। इसीलिए ईश्वर, महापुरुष और जागृत गुरुतत्व में कोई अन्तर नहीं होता।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥४२

अतएव इस सत्सङ्ग की ही साधना करो, इसी की साधना करो। भाव यह है कि प्रयत्नपूर्वक साधना (विषयों का त्याग, विषयों में आसक्ति का त्याग, निरन्तर भजन तथा जनसमाज में भगवच्चर्चा इत्यादि) के स्थान पर अथवा इन साधनाओं के साथ-साथ मुख्य रूप में साधक को महापुरुषों के साथ सत्सङ्ग करना उचित है क्योंकि तब महापुरुषों की कृपा प्राप्त करना सरल होगा तथा साधक परमप्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त करने में भी समर्थ होगा।

परमप्रेमरूपा भक्ति का स्वरूप

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥५१

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

आह्लादिनी शक्ति जागृत होने पर जिस चैतन्य की अनुभूति होती है, वह अवर्णनीय है अर्थात् मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों से उस स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता। साधक अपने अन्तर में चैतन्य की क्रियाएँ घटित होने पर जिस आनन्द की अनुभूति करता है, उसे वही समझ सकता है। इसलिए गीता में उसे राजगुह्य कहा गया है।

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ, डूबै चतुर सुजान ॥

जो शक्ति शरीर में क्रियाएँ कर आनन्द उत्पन्न करती है, वह अतीन्द्रिय है। अतः बोलकर, लिखकर अथवा संकेत से किसी भी प्रकार उस आनन्द को अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं है। इन्द्रियाँ साधन अथवा क्रियाएँ नहीं करतीं, अतः वे तो कुछ कह ही नहीं सकतीं। इसीलिए इस प्रेम-समुद्र को प्रतीकात्मक दृष्टि से इतना गहरा बतलाया गया है कि कोई विरला ही बुद्धिमान् इसमें गहरा डूब सकता है।

प्रभु प्रियतम के घर को अगम्य बताया जाता है। वह चारों ओर ऊँची दीवार से घिरा हुआ है। दीवार फाँदकर वहाँ तक कोई पहुँच नहीं पाता। यदि किसी प्रकार वहाँ सहुँच भी जाता है अथवा उधर झाँक भी लेता है तो उसकी वाणी बन्द हो जाती है, क्योंकि उस प्रियतम के घर की ओर झाँकना इन्द्रियों से सम्भव नहीं, अपितु इन्द्रियातीत अवस्था प्राप्त होने पर ही सम्भव होता है।

उपनिषदों में कहा गया है कि आत्मा तक मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। वहाँ जाकर इन्द्रियाँ लौट आती हैं, मन-बुद्धि की गति नहीं, वहाँ उनका प्रवेश नहीं होता। यह तो आत्मतत्व की बात हुई। जिस प्रकार आत्मतत्व अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार आत्मा की शक्ति भी अनिर्वचनीय है। मनुष्य यहीं भूल कर जाता है कि शक्ति जिन इन्द्रियों के आधार पर कार्य करती है, उसे उन्हीं इन्द्रियों की शक्ति मान लेता है तथा उस शक्ति के कार्य का वर्णन करने लगता है। किन्तु साधक को शक्ति-जागृति की अवस्था प्राप्त होने पर जब शक्ति इन्द्रियों

से भिन्न अनुभव होती है, तब वह उसके कारण प्रकट होने वाले आनन्द को किसी भी अन्य माध्यम से प्रकट नहीं कर सकता।

मूकास्वादनवत् ॥५२

गूँगे के स्वाद की तरह। जिस प्रकार गूँगा अपने मुँह में अन्दर ही अन्दर गुड़ का स्वाद लेता है, उसे व्यक्त नहीं कर पाता, इसी प्रकार जिसके शरीर अथवा चित्त में अन्तःचेतना अन्तर्मुखी जागृत क्रियाशीला हो गयी है, वह उसके आनन्द को अपने अन्तर में ही अनुभव तो करता है, किन्तु कह नहीं सकता।

प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥५३

किसी विरले पात्र अर्थात् किसी योग्य अधिकारी मात्र के शरीर में यह प्रकाशित होता है। यह ठीक है कि परमप्रेमरूपा भक्ति का किसी प्रकार प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह शरीर की क्रियाएँ नहीं, अपितु चित्त की अवस्था विशेष है। किन्तु उसके कारण किसी परमप्रेमी भक्त में आह्लादिनी शक्ति जागृत तथा क्रियाशीला होने पर जो क्रियाएँ करती है, उनसे शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है तथा जो लक्षण प्रगट होते हैं, उनसे परमप्रेमरूपा भक्ति का कुछ-कुछ आभास अवश्य मिल जाता है।

गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥५४

आह्लादिनी जागृत होने पर प्राप्त परमप्रेमरूपा भक्ति में निम्न स्वाभाविक गुण होते हैं–

(१) **गुणरहित**—अर्थात् ईश्वरीय शक्ति गुणों के अन्दर तो कार्य करती है, किन्तु स्वयं गुणों के प्रभाव से रहित होती

है। निराकार ईश्वर जब साकार होता है, तब भी अपने निराकार स्वरूप का त्याग नहीं करता। माया अथवा गुणों के अन्तर्गत आने पर वह माया में आभासित होता है, किन्तु परिवर्तित नहीं होता। जिस प्रकार स्फटिक मणि के पास किसी रङ्ग विशेष का पुष्प रखने से उसका प्रतिबिम्ब स्फटिक मणि पर पड़ता है तथा स्फटिक मणि भी लाल, पीली, हरी इत्यादि दीखने लगती है, किन्तु वास्तव में लाल, पीली हो नहीं जाती। इसी प्रकार आत्मा की चैतन्य शक्ति चित्त के तादात्म्य में आने पर चित्त में प्रभावी संस्कारों, वासनाओं, वृत्तियों एवं गुणों के संयोग में आने पर वैसी आभासित तो होती है तथा उस की क्रियाएँ भी उन गुणों के अनुरूप होती हैं, किन्तु शक्ति स्वयं इन सबसे अप्रभावित तथा अछूती रहती है।

(२) **कामनारहित**—परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त होने पर चैतन्य शक्ति जगत् में अपने द्वारा निर्मित तथा प्रसारित विषय-सम्पत्ति को समेटने का कार्य आरम्भ करती है। कामनाएँ, इच्छाएँ जगत् में प्रसार को बढ़ाने का कारण होती हैं। शक्ति के अन्तर्मुखी होने पर यह प्रसार कम होता जाता है अर्थात् चित्त में विद्यमान कामनाएँ समाप्त होती जाती हैं।

(३) **प्रतिक्षण वर्धमान**—आह्लादिनी जागृत होने के पश्चात् यदि साधक शक्ति की क्रियाओं में शारीरिक अथवा मानसिक हस्तक्षेप न करे तथा उसे स्वतन्त्र रूप में विकसित होने का अवसर प्रदान करे एवं नित्य निरन्तर यथासम्भव अधिक-से-अधिक साधना करे तो शक्ति प्रतिक्षण विकसित होती जाती है अर्थात् शक्ति पर पड़ा संस्कारों तथा क्लेशों का बोझ कम होता जाता है और शक्ति अधिकाधिक उभरकर चित्त में आनन्द एवं ज्ञान का प्रकाश फैलाती जाती है।

(४) **अविच्छिन्न**—अर्थात् शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। विच्छिन्न औपचारिक प्रयोग है। शक्ति न तो विकसित होती है और न ही क्षीण होती है। शक्ति के विकसित होने का अर्थ संस्कारों के क्षय होने पर शक्ति का हलकी हो जाना है। संस्कारों के बढ़ने पर शक्ति भारी या स्थूल हो जाती है। आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी आत्माभिमुखी जागृत होकर जब बढ़ती है, तब चित्त में सञ्चित संस्कारों को क्षीण करती हुई ऊपर चढ़ती है। ऐसी अवस्था में संस्कार-सञ्चय का कोई प्रश्न ही नहीं। यदि साधक कामनारहित होकर तथा श्रद्धा-प्रेम से युक्त होकर साधनरत रहे तो शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता। विपरीत संस्कारों के उभरने तथा विपरीत क्रियाओं के प्रकट होने पर ऐसा आभास अवश्य होता है कि साधक जगदाभिमुखी नीचे की ओर जा रहा है, किन्तु ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये सब शक्ति की ही क्रियाएँ हैं जो चित्तशुद्धि के लिए प्रकट होती हैं।

(५) **सूक्ष्मतर**—परमप्रेमरूपा भक्ति का आधार चैतन्य है। चैतन्य ही जगत् के रूप में प्रकट होकर स्थूलता ग्रहण करता है। जब तक शक्ति का प्रवाह जगदाभिमुखी प्रसवक्रम में रहता है, तब तक वह स्थूलता की ओर क्षीण होती रहती है। प्रतिप्रसवक्रम में अन्तर्मुखी जागृत होने पर वह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ती है और जैसे-जैसे संस्कार क्षीण होते जाते हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम स्तरों पर जाती है।

(६) **अनुभवरूप**—आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होकर चित्त में सञ्चित संस्कारों, वासनाओं के अनुरूप कार्य आरम्भ कर देती है। यह कार्य मन की इच्छा से स्वतन्त्र होता है। शक्ति के इस कार्य को क्रिया कहा जाता है, क्योंकि क्रिया

में कर्त्तापन का भाव नहीं होता वरन् चित्त में दृष्टाभाव उत्पन्न हो जाता है। तब शक्ति विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करती है। ये क्रियाएँ साधक अपनी ओर से नहीं करता वरन् अपने अन्तर में स्वतः होती हुई अनुभव करता है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥५५

उस परमप्रेमरूपा भक्ति (आह्लादिनी शक्ति की जागृति) को प्राप्त कर उसी को देखता है, उसी को सुनता है, उसी की बात करता है एवं उसी का चिन्तन करता है।

परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त होने पर भक्त में निम्न प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं—

(१) **तदेवावलोकयति**—आह्लादिनी शक्ति की क्रियाओं में साधक का कर्तृत्वाभिमान गलित होने लगता है तथा दृष्टा-भाव बढ़ता जाता है। उसे अपने शरीर एवं चित्त में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ अनुभव होती हैं जिन्हें वह दृष्टाभाव से देखता रहता है। साधना के विकसित होने के साथ ही इस जगत् में उसे सर्वत्र व्यापक चैतन्य शक्ति के ही दर्शन होते हैं तथा वह जगत् की प्रत्येक क्रिया में चैतन्य शक्ति को ही कारण देखता है। इस प्रकार साधक का सारा जीवन ही क्रियामय होता जाता है। अर्थात् मनुष्य का मन वासना के अधीन होता है जिसके वशीभूत होकर साधक कुछ नहीं करता, अपितु शक्ति की क्रियाओं का यंत्र बन जाता है।

(२) **तदेव शृणोति**—यहाँ सुनने का अर्थ ज्ञान प्राप्त करना है, जैसे कोई आँखों से देखकर वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है अथवा अपनी नासिका से सूँघकर सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है। जब साधक के शरीर में कई प्रकार की क्रियाएँ

प्रकट होती हैं तो स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म इन्द्रियों से साधक को उन क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार जगत् में भी सर्वत्र व्यापक और प्रत्येक क्रिया में कारण शक्ति की क्रियाओं का ही ज्ञान होता है अर्थात् साधक का सारा जीवन शक्तिमय होता जाता है।

(३) **तदेव भाषयति**—ऐसे आह्लादिनी-शक्ति-जागृत साधक का शरीर एवं इन्द्रियाँ यन्त्रवत होते जाते हैं। उसके चित्त में शक्ति प्रस्फुटित होकर साधक से जो कार्य करवाना चाहती है, वह वही करता है तथा जो बात उससे कहलवाना चाहती है, वही कहता है। उसका हृदय और मुख एक हो जाते हैं। मन में कुछ और मुख में कुछ वाली बात नहीं रहती। मानसिक इच्छाएँ गौण होती जाती हैं तथा शक्ति की क्रिया मुख्य हो जाती है।

(४) **तदेव चिन्तयति**—उसी का चिन्तन करता है। जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, साधक का जीवन ही क्रियामय तथा शक्तिरूप हो जाता है। तब उसके जीवन में अन्तर में जागृत शक्ति का चिन्तन भी शक्ति की एक क्रिया होता है। साधक की बुद्धि में जगत् से सम्बन्धित विचार उठने बन्द हो जाते हैं। वह शक्ति की मस्ती में ही मस्त रहता है तथा उसकी बुद्धि में शक्ति-सम्बन्धी विचार एवं चिन्तन चलता रहता है। यदि उस में कभी जगत् के विचार उठते भी हैं तो केवल वही जिन्हें शक्ति क्रियारूप में उसके सम्मुख उपस्थित करती है।

(५) **गौणी भक्ति का स्वरूप**—परमप्रेमरूपा भक्ति के विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए अब नारद जी थोड़ा गौणी भक्ति की व्याख्या भी करते हैं ताकि साधकों को इन

दोनों का अन्तर समझ में आ जाय तथा विषय और अधिक स्पष्ट हो जाय।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥५६

गौणी भक्ति गुण अथवा आर्तादि भेद से तीन प्रकार की होती है। परमप्रेमरूपा भक्ति का वर्णन करने के पश्चात् अब नारद जी गौणी भक्ति के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से लिखते हैं। गौणी भक्ति को ही आणवोपाय कहा जाता है। भक्ति का यह स्तर गुणों के अन्तर्गत होने के कारण कर्तृत्वाभिमानयुक्त होता है। गुणों के भेद से गीता में इसके तीन स्तर कहे गये हैं। १—जो भक्ति क्रोध, हिंसा, दम्भ एवं मत्सर के अधीन होकर भेददृष्टि से की जाती है, उसे तामसी भक्ति कहा जाता है। २—जो भक्ति विषय, यश तथा धन आदि की कामना से युक्त होकर भेददृष्टिपूर्वक की जाती है, उसे राजसी कहा जाता है। ३—जो भक्ति भगवान् के प्रति समर्पित होकर ज्ञान, वैराग्य एवं भगवत् प्रीत्यर्थ की जाती है, उसे सत्वगुणी कहा जाता है। यह भक्ति भी भेददृष्टि से ही की जाती है।

इसी प्रकार आर्त्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी की दृष्टि से भी भक्ति के तीन भेद किये जाते हैं—

(१) **आर्त्त भक्ति**—जो मनुष्य जगत् के विषयों से दुःखी हो जाता है, विषयों से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है एवं आर्त्तभाव से भगवान् से प्रार्थना करता एवं प्रयत्नशील रहता है, वह आर्त्त भक्त कहलाता है।

(२) **जिज्ञासु भक्ति**—इस में भक्त को यह समझ आती है कि दुःखों का कारण जगत् के विषय ही हैं एवं सुखों का कारण आत्मस्थिति ही है। तब उसके मन में जगत् के विषयों

से पीछा छुड़ाने एवं आत्मा की ओर अग्रसर होने की उत्कण्ठा अत्यधिक बढ़ जाती है।

(३) **अर्थार्थी भक्ति**—जब साधक भगवद्प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, उसी के लिए साधना करता है, उसी के लिए गुरु की खोज करता है, तब उसकी भक्ति को अर्थार्थी कहा जाता है।

यहाँ यह बात समझने की है कि भगवद्प्राप्ति के अर्थ परमप्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति अन्तर में आह्लादिनी शक्ति की जागृति ही है।

इसके अतिरिक्त चौथे प्रकार की ज्ञानी-भक्ति की गणना गौणी भक्ति के अन्तर्गत नहीं की जाती, क्योंकि तब भक्त की आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत हो जाती है तथा साधक का कर्तृत्वाभिमान गलित होना प्रारम्भ हो जाता है ज्ञानी भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है। वह भगवान् की आत्मा ही होता है, क्योंकि तब भगवद्भक्ति अर्थात् भगवान् के आत्मा की शक्ति उसके अन्दर जागृत हो जाती है। यही परमप्रेमरूपा भक्ति है।

यद्यपि गौणी भक्ति से आत्मस्थिति अथवा भगवद्प्राप्ति नहीं होती, किन्तु यदि साधक श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गौणी भक्ति का अभ्यास करता रहे तो कालान्तर में परमप्रेमरूपा भक्ति स्वयमेव प्राप्त हो जाती है।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥५७

पूर्व की अपेक्षा से उत्तरक्रम की भक्ति कल्याणकारिणी होती जाती है। अर्थात् तामसी भक्ति की अपेक्षा राजसी तथा राजसी भक्ति की अपेक्षा सात्विकी भक्ति उत्तम मानी जाती

है। इसी प्रकार आर्त की अपेक्षा जिज्ञासु एवं जिज्ञासु की अपेक्षा अर्थार्थी भक्ति उत्तम मानी जाती है। इन सब की अपेक्षा ज्ञानी की परमप्रेमरूपा भक्ति सर्वोपरि है।

आह्लादिनी शक्ति जागृत होने के पश्चात् साधना के कई स्तर आते हैं। सर्वप्रथम शक्ति की क्रियाएँ अपने से भिन्न नजर आती हैं। तत्पश्चात् जो शक्ति अपने अन्तर में कार्य कर रही है, वह जगत् के हर कार्य में अन्दर एवं बाहर कार्यरत नजर आती है। भक्ति के ये सभी स्तर उत्तरोत्तर क्रम से एक दूसरे से उत्तम तथा आत्मस्थिति के समीप होते जाते हैं।

परमप्रेमरूपा भक्ति की सुलभता तथा महत्व

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥५८

अन्य सब की अपेक्षा भक्ति सुलभ है।

भक्ति प्राप्त करने के लिए न विद्या की आवश्यकता है, न धन की, न श्रेष्ठ कुल की, न उच्च वर्णाश्रम की, न कठिन वैराग्य की। आवश्यकता है केवल सरल स्वभाव से प्रभु प्रियतम के प्रति समर्पित होने की। ईश्वरीय शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति और कार्यशीलता को लोग इतना कठिन कहते हैं, वह इसीलिए कि उन्हें भगवान् की सत्ता पर पूर्ण विश्वास नहीं होता। जब परमप्रेमरूपा की स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब तो साधना अत्यन्त ही सरल हो जाती है। साधक को अपनी ओर से कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसे तो केवल समर्पणभाव से साधना में बैठना होता है। इससे सरल और सुगम साधन और कौन हो सकता है?

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात् ॥५९

अर्थात् भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है। इसके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

कहा गया है—"प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्"—प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता है? यदि किसी के हाथ में चश्मा हो और दूसरा व्यक्ति कहे कि क्या प्रमाण है कि आपके हाथ में चश्मा है? वह व्यक्ति यही कहेगा कि जब मैं आपको हाथ में चश्मा पकड़े प्रत्यक्ष दीख रहा हूँ, तब प्रमाण की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार जब आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी होती है, तब साधक के समक्ष सभी क्रियाएँ प्रत्यक्ष होती हैं। जिस आनन्द की साधक अनुभूति करता है, वह आनन्द भी प्रत्यक्ष होता है। योगदर्शन में तो इसीलिए इस साधन को 'ईश्वर-प्रणिधान' कहा गया है अर्थात् ईश्वरीय शक्ति को अपने अन्तर में प्रत्यक्ष और निश्चित् धारणा करना। तब किसी को यह बताने अथवा समझाने की आवश्यकता नहीं रहती कि शक्ति जागृत होकर क्रियाक्षीला हो गयी है, अपितु साधक को उन क्रियाओं की स्वयं प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

इस साधन-प्रणाली में केवल बातों से काम नहीं चलता। अन्य प्रणाली में तो गुरु शिष्य के कान में मंत्र फूँककर अलग हो जाते हैं। किन्तु यहाँ जब तक साधक को क्रियाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती, तब तक संतोष नहीं होता। अतः परम-प्रेमरूपा भक्ति प्राप्त होने पर ही साधन प्रत्यक्ष होता है। अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

शान्तिरूपा परमानन्दरूपाच्च ॥६०

भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा भी है।

चित्त में अशान्ति का कारण सञ्चित संस्कार एवं तदनुरूप

वासना होती है। यदि संस्कार क्षीण हो जायें तो चित्त को कार्यशील बनाने वाली शक्ति शान्ति एवं आनन्ददायक होती है। आह्लादिनी शक्ति जब जागृत होती है तो चित्त में सञ्चित संस्कारों को क्रियाओं में परिणत कर क्षीण करती जाती है। तब अशान्ति के स्थान पर चित्त में शान्ति उत्पन्न होती है।

नाम रूपात्मक जगत् में दुःख ही दुःख है। आनन्द तो वास्तव में जीव के अन्दर कार्यरत चेतन शक्ति में है। वह आनन्द संस्कारों, वासनाओं के नीचे दबा हुआ है। जब शक्ति आनन्द-विरोधी इन संस्कारों, वासनाओं को क्षीण करती है, तब दबा हुआ आनन्द प्रकट होता है।

परमप्रेमरूपा भक्ति के सहायक अङ्ग

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्म लोक वेदत्वात् ॥६१

लोकहानि की चिन्ता (भक्त को) नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह भक्त अपने आपको और लौकिक-वैदिक (सब प्रकार के) कर्मों को भगवान् के अर्पण कर चुकता है।

भक्त अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण कर देता है। जो भक्त ऐसा नहीं करता, अपना स्वतन्त्र अलग व्यक्तित्व बनाकर रखता है तथा अपने धन, सम्पत्ति, परिवार को अपना मानता है, वह भगवान् का भक्त कहलाने का अधिकारी नहीं है। जब इस प्रकार सब कुछ भगवान् का ही है, तब हानि-लाभ भक्त का अपना नहीं हो सकता। तब हानि-लाभ की चिन्ता भक्त को क्यों हो? भक्त के पास तो भगवान् का भजन तथा उन की सेवा के अतिरिक्त अन्य कामों के लिए समय ही नहीं होता। उसके चित्त में भगवान् का प्रेम समाया होता है। फिर वह लौकिक हानि की चिन्ता किस प्रकार करे!

स्त्री, धन नास्तिक वैरि चरित्र न श्रवणीयम् ॥ ६३

स्त्री धन, नास्तिक और वैरी का चरित्र नहीं सुनना चाहिए।

१—पिछले सूत्र में नारदजी ने लोक-व्यवहार में लाभ-हानि की चिन्ता न करने का आदेश दिया था, व्यवहार-त्याग का नहीं। अतः साधकों को लाभ-हानि की चिन्ता त्याग कर कर्त्तव्यबुद्धि से कर्म करना श्रेयस्कर है। अब इस सूत्र में यह निर्देश दिया गया है कि स्त्री, धन, नास्तिक तथा वैरी (शत्रु) का चरित्र नहीं सुनना चाहिए। स्त्रियों के विषय में चर्चा करना, चित्र देखना, गन्दा साहित्य पढ़ना, उनका चिन्तन करना इत्यादि चित्त में काम-भाव पैदा करते हैं जो साधन में बड़ा भारी विघ्न है। यदि यह कहा जाय कि काम-वासना शारीरिक स्तर पर भोग-वासना का निम्नतर स्वरूप है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अतएव साधक को कोई भी ऐसा कार्य करने से बचना चाहिए जो कामोत्तेजक हो। जो बात यहाँ पर पुरुष भक्तों के लिए कही गयी है, वही बात इसके विपरीत स्त्रियों को भी व्यवहार करने का संकेत है।

२—धन का चिन्तन, धन-प्राप्ति के बारे में चर्चा करना, चित्त में लोभ की वृत्ति पैदा करता है जो कि काम के पश्चात् मनुष्य का दूसरा बड़ा शत्रु है।

३—भगवान् तथा शास्त्रों में विश्वास न रखने वाले व्यक्ति को नास्तिक कहा जाता है। ऐसे लोगों से वार्तालाप ईश्वर, साधना एवं श्रद्धा-विरोधी होता है। ऐसे लोगों का प्रत्यक्ष सङ्ग तथा उनका चरित्र-श्रवण साधक के चित्त में भी अश्रद्धा एवं शङ्काएँ उत्पन्न करने का कारण बनना सम्भव है। अतः नास्तिक व्यक्तियों एवं उनके चरित्र-श्रवण से सदैव बचना चाहिए।

४-- वास्तव में तो भक्त का कोई वैरी होता ही नहीं, किन्तु जब तक चित्त की ऐसी परिपक्व अवस्था प्राप्त न हो जाय, तब तक वैरियों की बातें सुनना, उनके व्यवहार देखना तथा उनसे प्रत्यक्ष मिलना--इन सबसे बचना चाहिए, अन्यथा चित्त में क्रोध तथा द्वेष पैदा होना सम्भव है। इससे घृणा के भाव चित्त में दृढ़ होते हैं तथा साधक का लक्ष्य बार-बार अपनी साधना से हटकर वैरी की ओर जाता है।

स्त्री के चिन्तन से काम, स्त्री-चरित्र के श्रवण-चिन्तन से मन में काम, धन-सम्पत्ति के चिन्तन से मन में लोभ, नास्तिक व्यक्ति के श्रवण-चिन्तन तथा मिलन से भगवान् तथा शास्त्रों के प्रति अविश्वास और वैरी के चिन्तन से मन में क्रोध का भाव उत्पन्न होता है। ये चारों भाव साधक के लिए विनाश-कारी हैं, अतः इनसे बचते रहना चाहिए।

अभिमान दम्भादिकं त्याज्यम् ॥६४

अभिमान, दम्भ आदि का त्याग करना चाहिए।

पिछले सूत्र में स्त्री, धन, नास्तिक तथा वैरी का चरित्र श्रवण न करने का निर्देश था। यदि भक्त इन सबका त्याग कर देता है तथा उस त्याग का अभिमान करता है तो कल्याण के स्थान पर अकल्याण ही अधिक होता है, क्योंकि अभिमान शत्रु है तथा अभिमान के पीछे काम, क्रोध, लोभ इत्यादि सभी विकार अपने पीछे काम, क्रोध, लोभ इत्यादि सभी विकार अपने आप आकर चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

दम्भ का अर्थ है—'दिखावा'। जो गुण आपमें न हो, उसका प्रदर्शन या दिखावा करना अथवा जो सम्पत्ति अपने पास न हो, उसके अपने पास होने का प्रदर्शन करना। इसी प्रकार विद्या,

शक्ति इत्यादि के बारे में भी कहा जा सकता है। यदि साधना में व्यक्ति संसार का चिन्तन करता है और जगत् में अपने साधनरत होने का दिखावा करता है तो यह भी दम्भ है। मन में कुछ और, मुख में कुछ और—यह भी दम्भ है और गम्भीरतापूर्वक साधनमय जीवन व्यतीत करने में बाधक है। अतः साधक को इन सबसे बचते रहना चाहिए।

तदर्पिताखिलाचारः सन् काम-क्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५

सब आचार भगवान् के अर्पण कर चुकने पर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो इन्हें भी उस भगवान् के प्रति ही करना चाहिए।

यदि भक्त भगवान् के प्रति समर्पणभाव से पूर्ण है और फिर भी काम, क्रोध, अभिमान आदि विघ्न आते हैं तो उनको भगवान् द्वारा प्रदत्त समझकर समर्पण भाव से सहन करते हुए भगवान् को ही समर्पित करते रहना चाहिए ताकि अपना प्रबल स्वरूप दिखाकर ये विघ्नरूप न बनें।

वादो नावलम्ब्यः ॥७४

भक्त को वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। वाद-विवाद अवलम्बनीय नहीं है।

साधक को वाद-विवाद से दूर रहना चाहिए क्योंकि तर्क की उखाड़-पछाड़ से चित्त में अहङ्कार घनीभूत होकर उदारता-पूर्वक सही बात भी स्वीकार करने से वञ्चित रक्खेगा। यदि वाद-विवाद में सामने वाला व्यक्ति कोई आधारपूर्ण ठीक तर्क प्रस्तुत करता है तो अहं के दम्भ से रहित होकर, खुले मस्तिष्क से उसे स्वीकार कर लेना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं।

इसके विपरीत हर एक पक्ष अपने ही तर्क की पुष्टि के अहङ्कार में दूसरे की बात नहीं सुनता और न ही उस पर विचार ही करने को प्रस्तुत होता है। ऐसे विवादयुक्त प्रसङ्गों से चित्त में शान्ति के स्थान पर उद्विग्नता, हठवादिता आदि के कारण तर्क-कुतर्क में उलझने की सम्भावना ही अधिक है। साधारण बातचीत और वाद-विवाद का अन्तर ध्यान में स्पष्ट रखते हुए वाद-विवाद को भी उसी ढङ्ग पर सहजता, सहृदयता के साथ लिया जाय कि जिसके अन्तर्गत कोई सृजनात्मक तथ्य निकले। यहाँ तक तर्क का औचित्य है। अतः तर्क पर आधारित गहन वार्त्तालाप जो केवल वाक्पटुता तक ही सीमित रह जाय, ऐसे वाद-विवाद में साधक को नहीं पड़ना चाहिए। उससे सदैव ही बचना चाहिए।

भक्ति-शास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि ॥७६

(उस प्रेमा भक्ति की प्राप्ति के लिए) भक्तिशास्त्र का मनन करते रहना चाहिए और ऐसे कर्म भी करने चाहिए जिनसे भक्ति की वृद्धि हो।

भक्ति की प्राप्ति में सहायक कर्मों में मुख्य निम्न प्रकार हैं—

१—अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों का यथासम्भव पूरा पालन। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी के लिए त्यागपूर्ण आचरण, गृहस्थ के लिए भगवत्प्रीत्यर्थ माता-पिता, स्त्री-पुत्र, परिवार आदि आश्रितजनों से प्रेम, सत्कारपूर्वक उनका पालन तथा न्याय, सत्यपूर्वक जीविका-निर्वाह एवं शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप आदि।

२—सदाचार का पालन।

३—सत्सङ्ग एवं भगवद्गुणानुवाद का श्रवण, चिन्तन और कीर्तन।

४—भगवन्नाम का जप, स्मरण और कीर्तन।

५—सन्त भक्तों की सेवा और श्रद्धापूर्वक उनकी आज्ञा का पालन।

६—तीर्थ-सेवन।

७—दीन प्राणियों पर दया एवं यथा साध्य तन, मन, धन से उनकी सेवा।

८—सब कर्मों को भगवान् के प्रति अर्पण।

९—सब प्राणियों में भगवान् को देखने का अभ्यास।

सुख दुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥७७

सुख-दुःख, इच्छा, लाभ आदि का (पूर्ण) त्याग हो जाय, ऐसे काल की बाट देखते हुए, जब तक पूर्णतः चित्तशुद्धि हो, तब तक साधक को आधा क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए। समय बड़ा अनमोल है, बीता समय पुनः लौट कर नहीं आता।

अहिंसा सत्य शौच दयास्तिक्यादि चरित्र्याणि परिपालनीयभि ॥७८

(भक्ति के साधक को) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारों का भली भाँति पालन करना चाहिए।

शाण्डिल्यकथिता परानुरक्ति

नारद-भक्तिसूत्र के अतिरिक्त भक्ति का दूसरा प्रामाणिक सिद्धान्त-ग्रन्थ 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र' है। वैसे तो नारद-सूत्र भी सामान्य संसारी जीवों के स्तर से कहीं अधिक उच्च श्रेणी का है, जैसा कि उस पर लिखी गयी टीकाओं से भी स्पष्ट होता है। जिनमें सामान्यतया नारद भक्तिसूत्रों की परमप्रेमरूपा भक्ति का विश्लेषण गौणी भक्ति की तरह ही किया जाता है, उन टीकाओं को पढ़कर महर्षि नारद द्वारा कथित परमप्रेम-रूपा भक्ति तथा गौणी भक्ति में अन्तर करना कठिन होता है। नारद-भक्तिसूत्र की अपेक्षा शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र और भी उच्च स्तर का है जिसे समझ पाना साधारण जन-मानस के लिए सरल नहीं है। यह मानते हुए कि प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने के उपरान्त साधकों, पाठकों की बौद्धिक भूमिका विकसित हो गयी होगी, हम शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र के कुछ सूत्रों के आधार पर प्रसङ्ग का समापन करते हैं।

भक्ति की परिभाषा देते हुए महर्षि शाण्डिल्य ने लिखा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥२

वह भक्ति ईश्वर के प्रति परम अनुरागरूपा है।

परम का अर्थ वही लेना चाहिए जो कि नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति की व्याख्या सम्बन्धी सूत्र में किया गया है। राग का अर्थ आसक्ति नहीं है; अपितु वह राग तो परम राग है,

मायातीत का राग है। इस राग को शुद्ध, निर्मल प्रेम के अर्थ में लेना चाहिए; जैसा कि महर्षि शाण्डिल्य ने निम्न सूत्र में विचार व्यक्त किया है—

हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत् ॥२१

यहाँ यह शङ्का व्यक्त की गयी है कि यदि भक्ति राग-रूपा है तो योगशास्त्र के मतानुसार राग की गणना तो पाँच क्लेशों के अन्तर्गत की गयी है। तो क्या भक्ति का राग भी क्लेशमूलक राग है ? ऐसी अवस्था में तो यह राग भक्तों एवं साधकों के लिए हेय है। ऐसा कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि यह राग शुद्ध, शुभ तथा उत्तम है। भक्ति-विषयक राग की गणना क्लेशों के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। जो राग माया के बन्धन में बाँधने का कारण होता है, वही क्लेश कहलाता है। इसके विपरीत भक्ति का राग तो माया के बन्धन को ढीला कर मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होता है। अतः ईश्वराभिमुखी राग को भक्ति कहा जाता है जो किसी भी अवस्था में त्याज्य नहीं है। बाह्य जगदाभिमुखी राग ही त्याज्य है। जब सङ्ग त्याज्य बतलाया जाता है तो वहाँ सङ्ग का अर्थ कुसङ्ग होता है। सत्सङ्ग तो अवलम्बनीय है। इस प्रकार ईश्वर के प्रति अनुराग ही भक्ति है।

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥३

अर्थात् जिस मनुष्य की ईश्वर में संस्थिति (सम्यक् निष्ठा अथवा भक्ति) होती है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है—ऐसा श्रुति का उपदेश है।

छान्दोग्योगपनिषद् में कहा है—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' अर्थात् ब्रह्म में संस्थापित मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता

है। नारद जी ने भी भक्ति को अमृतस्वरूपा कहा है, क्योंकि भक्ति साधक को अमरत्व प्रदान करने में हेतु होती है। जैसे-जैसे भक्त के चित्त में संस्कारों एवं वासनाओं का क्षय होता जाता है, वैसे ही वैसे भक्त जन्म-मरण के चक्र से अतीत होता जाता है।

ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तद संस्थितेः ॥४

यदि यह कहें कि भक्ति ज्ञानरूपा है, क्योंकि 'संस्थ' का अर्थ ज्ञान होता है, तो ऐसा मानना भी उचित नहीं है। मनुष्य का जो शत्रु होता है, उसका उसे ज्ञान तो होता है, किन्तु उसके प्रति चित्त में भक्ति का भाव न होकर शत्रुता अथवा द्वेष होता है। मित्र, पुत्र अथवा पति इत्यादि के प्रति भी आसक्ति का भाव होता है, परम राग नहीं होता। अतः ज्ञान को भक्ति मानना उचित नहीं है अथवा भक्ति ज्ञानरूपा नहीं है। ज्ञान होने पर भी चित्त में घृणा, द्वेष, क्रोध आदि की भावना आ सकती है। ज्ञान का फल भक्ति है; किन्तु प्रत्येक ज्ञान का फल भक्ति नहीं है।

परा—जब तक जीव जगत् के अभिमुख रहता है, तब तक उसका राग भौतिक, हेय होता है। यदि वह भगवान् की कल्पना भी करता है तो भौतिक पदार्थों के आधार पर ही करता है। धातु, पाषाण अथवा मानसिकप्रतिमा बनाता है। उस आकृति की सीमाएँ होती हैं अर्थात् वे आकृतियाँ भौतिक होती हैं। उनके प्रति भक्ति को परानुरक्ति नहीं कहा जा सकता। जो ईश्वरीय शक्ति आह्लादिनी अन्तर में जागृत होती है, वह तीनों गुणों के आधार पर तो कार्य करती है, किन्तु उसका उन विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह शक्ति सगुण कहलाती है, किन्तु उसका मूल स्वरूप निर्गुण ही होता है। जब तक चित्त

में संस्कार रहते हैं, भक्ति सगुण कही जाती है। जैसे-जैसे संस्कार, वासनाएँ क्षीण होते जाते हैं, भक्ति का स्वरूप भी सगुण से निर्गुण में परिवर्तित होता जाता है। इसीलिए शाण्डिल्य इस भक्ति को परानुरक्ति कहते हैं।

तयोपक्षयाच्च ॥५

तथा चित्त में भक्तिरूपी परम राग उदय होने पर ज्ञान का क्षय होता है। इसलिए भी भक्ति तथा ज्ञान की एकता नहीं हो सकती।

जब चित्त में एक भाव उदय होता है तो उसका पूर्ववर्ती भाव दब जाता है अर्थात् चित्त में ईश्वर के प्रति अनुराग का भाव उदय होने पर ज्ञान का भाव दब जाता है। भाव यह है कि किसी व्यक्ति को देखने पर जब यह पता लगता है कि यह व्यक्ति अमुक है तो उसका ज्ञान होता है। किन्तु जब उसके प्रति स्वाभाविक प्रेम पैदा होता है, तब चित्त में यह ज्ञान अथवा अभिमान नहीं रहता कि मैं उस से प्रेम कर रहा हूँ। ऐसा ज्ञान रहने पर प्रेम में स्वाभाविकता नहीं आयेगी। स्वाभाविकता उदय होने पर ज्ञान अथवा अभिमान नहीं रहेगा। अतः ज्ञान और भक्ति चित्त में एक साथ तरङ्गित नहीं हो सकते। भक्ति का भाव उदय होने पर ज्ञान गौण हो जाता है।

जब आह्लादिनी शक्ति चित्त में जागृत एवं क्रियाशीला होती है तो सर्वप्रथम उसकी क्रियाओं का प्रत्यक्ष एवं निश्चित् ज्ञान होता है। ईश्वरीय शक्ति का भान होता है। उसके पश्चात् जब शक्ति के प्रति चित्त में प्रेम, समर्पण, भक्ति का भाव होता है, तब 'मुझे यह ज्ञान हो रहा है'—यह भाव गौण होकर प्रेम तथा आनन्द का भाव स्वभावतः ही मुख्य हो जाता है। अब भक्ति के अनुरागरूपा होने में प्रमाण उपस्थित करते हैं—

द्वेषप्रतिपक्ष भावाद्रस शब्दाच्च रागः ॥६

अर्थात् द्वेषभाव की विरोधिनी तथा रस शब्द से प्रतिपादित होने के कारण भक्ति रागस्वरूपा है।

जहाँ भगवान् के प्रति प्रेम होता है, वहाँ किसी के भी प्रति द्वेष नहीं होता। जहाँ द्वेष होता है, वहाँ चित्त के अन्दर का राग भी विषयी होता है। भगवान् का सच्चा भक्त प्राणिमात्र से प्रेम करता है।

रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ॥ तै०उ० २, ७

रस के प्रति चित्त में माधुर्य भाव होता है तथा माधुर्य के प्रति अनुराग। अनुराग को ही भक्ति कहा जाता है।

यहाँ पर अनुराग के विषय में भी कुछ व्याख्या आवश्यक है। 'अनु' का अर्थ पीछे चलना अथवा अनुसरण करना, जैसे अनुचर। अध्यात्म में एक वृत्ति के पीछे चलने वाली दूसरी वृत्ति को अनुवृत्ति कहा जाता है। अर्थात् जब एक विषय पर एक वृत्ति उदय होती है तो दूसरी वृत्ति भी उसी विषय पर उदय होती है। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी— सभी वृत्तियाँ उस एक ही विषय पर उदय होती रहती हैं। वृत्तियों के इस प्रकार एक ही विषय पर उदयास्त होते रहने से चित्त को उस विषय पर एकाग्र माना जाता है, क्योंकि वृत्ति बार-बार एक ही विषय को सामने लाती है। जब चित्त में प्रत्येक वृत्ति ईश्वर के प्रति रागयुक्त होती है तो उस ईश्वराभिमुखी राग में ऐसी तारतम्यता आ जाती है कि अन्य किसी सांसारिक वासना के चित्त में प्रविष्ट होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसे अनुराग कहा जाता है। तब फिर किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष, घृणा, क्रोध, अभिमान इत्यादि

उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अनुराग की पराकाष्ठा को ही परानुराग कहा जाता है। परानुराग में परा शक्ति आह्लादिनी का प्रत्यक्ष एवं निश्चित् जागरण, कार्य-शीलता का अनुभव तथा उसके प्रति परम प्रेम आवश्यक होता है।

न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् ॥७

(वह भक्ति) क्रियारूप नहीं है। ज्ञान की तरह वह भी कर्त्ता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती।

यदि क्रिया का अर्थ अभिमानयुक्त कर्म लिया जाय तो पूजा-पाठ, जप, ध्यान, आसन, प्राणायाम इत्यादि भक्ति अथवा अनुराग नही है क्योंकि ये कर्त्ता के प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। यदि कीर्तन करते-करते अश्रुपात, घूर्णा, डोलना इत्यादि स्वतः हो जायें तो उसे निम्न स्तर का अनुराग अवश्य कहा जा सकता है क्योंकि उसका आधार भौतिक होता है।

यदि क्रिया का अर्थ आह्लादिनी की जागृति के उपरान्त घटित होने वाली क्रियाओं के रूप में लिया जाय तो उसे परा-नुराग अथवा पराभक्ति की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है, क्योंकि इन क्रियाओं को कराने वाली शक्ति परा है जो मन की इच्छा से स्वतन्त्र, संस्कारों के आधार पर क्रियाएँ करती है। उसमें शक्ति के किसी भी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। जैसे संस्कारों का आधार होता है, वैसी ही क्रियाएँ स्वतः होती हैं।

जिस प्रकार सूर्य किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, स्वयं प्रकाशित है, जिस प्रकार आत्मज्ञान के लिए किसी बाह्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं के ज्ञान से ही प्रका-

शित होता है, इसी प्रकार भक्ति अथवा अनुराग भी किसी बाह्य कर्म अथवा कर्त्ता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखते। इसीलिए भक्ति को परा अथवा स्वतःसिद्ध कहा जाता है जो आल्हादिनी की अन्तर्मुखी जागृति के पश्चात् ही संभव हो पाती है। नारदभक्तिसूत्र में इसी भाव को—'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अर्थात् जिस प्रेमरूपा तथा अमृतस्वरूपा भक्ति को प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है'—कहकर वर्णित किया गया है। स्मरण रहे कि सिद्ध का अर्थ यहाँ पर स्वाभाविक है। अर्थात् तब साधक को भक्ति की क्रियाएँ—रोना, हँसना, गाना, चिल्लाना आदि अन्तर से ही स्वभावतः प्रकट होती हैं, किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती।

अतएव फलानन्त्यम् ॥८

अतएव इसका फल भी अनन्त है।

अनन्त केवल भगवान् अथवा भगवद्शक्ति है। शेष सारा जगत् तो सीमाओं में बँधा है। जगत् में प्रत्येक कर्म का फल सीमित तथा नश्वर है, किन्तु परम प्रेमरूपा भक्ति अर्थात् परा भक्ति का फल अनन्त है अर्थात् अनन्त परमात्मा या उसके अंशरूप आत्मा की उपलब्धि कराने वाला होता है।

शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होकर चित्तशुद्धि का कार्य करने तक तो माया के अन्तर्गत ही कार्य करती है, किन्तु फिर सीमाओं से परे अनन्त चेतन आत्मा अथवा परमात्मा की प्राप्ति का कारण बनती है। इस प्रकार भक्ति अनन्त फलदायिनी है।

तद्वतः प्रपत्ति शब्दाच्च न ज्ञानमितर प्रपत्तिवत् ॥९

ज्ञानवान् का भी शरणागत होना कहा गया है तथा शरणागति अर्थात् भक्ति या पराभक्ति ज्ञानरूप नहीं है। जिस प्रकार कामनायुक्त अज्ञानी लोग कामनावश अन्य देवताओं के शरणागत होते हैं, किन्तु उनकी यह शरणागति ज्ञानरूप नहीं है। इसी प्रकार भगवद् समर्पण भी ज्ञान से इतर है। भगवान् के प्रति समर्पित होना भक्ति कहा गया है। जब भक्त अन्तर में जाग्रत आह्लादिनी शक्ति के प्रति श्रद्धावान् होकर उसके प्रति अपने चित्त में प्रेम का भाव उदय होता हुआ अनुभव करता है तथा उसके प्रति समर्पित हो जाता है तो उसे भक्ति अथवा परानुरक्ति कहा जाता है। भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हुए कहते हैं—'ज्ञानवान् मां प्रपद्यन्ते—(गीता ७,९) अर्थात् ज्ञानवान् मेरी शरण ग्रहण करता है।' इसी को ज्ञानी भक्त कहा जाता है। अर्थात् जिसको अन्तर्मुखी शक्ति की जागृति का प्रत्यक्ष ज्ञान है और तत्पश्चात् जो भगवान् के प्रति समर्पित है, वह ज्ञानी भक्त कहलाता है।

गीता में भगवान् यह भी कहते हैं—'कामैस्तैर्हृत ज्ञाना: प्रपद्यन्तेन्य: (गीता, ७-२०)—जो भक्त कामनाओं की पूर्त्ति के लिए अन्य देवताओं का भजन करते हैं, उनकी भक्ति अज्ञानियों की भक्ति होती है।' अर्थात् ज्ञानियों की और अज्ञानियों की—भक्ति दो प्रकार की होती है। ज्ञान तथा अज्ञान भक्ति से भिन्न हैं। अज्ञान का आधार अशुद्ध स्वरूप तथा ज्ञान का आधार शुद्ध स्वरूप होता है।

सा मुख्येतरापेक्षितत्वात् ॥१०

वह भक्ति मुख्य है, क्योंकि ज्ञान, योग आदि इतर साधन भक्ति की अपेक्षा रखते हैं। (अन्य साधन अङ्ग हैं, भक्ति अङ्गी है।)

ज्ञान, योग, उपासना, गौणी भक्ति इत्यादि सभी साधन आह्लादिनी-जागृतिरूपी परानुरागरूपा भक्ति की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। परानुराग में सभी साधनाओं का समावेश होता है अर्थात् चित्त में जैसे संस्कार उदय होते हैं, उन्हीं के अनुरूप कभी ज्ञान की तो कभी योग की क्रियाएँ स्वतः होती हैं।

प्रकरणाच्च ॥११

प्रकरण से भी यही सिद्ध होता है कि भक्ति ही मुख्य है, क्योंकि वहाँ रतिरूपी फल स्वराज्यसिद्धि बताया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में उपरोक्त प्रकरण का मंत्र इस प्रकार है—

आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। ७,२५,२

"यह सब कुछ परमात्मा ही है—जो ऐसा देखता, मानता तथा समझता है, वह परमात्मा में परम अनुराग, परमात्मा में ही क्रीड़ा, परमात्मा के संयोग का सुख तथा परमात्मा में ही आनन्द का अनुभव करता हुआ स्वराट् (परमात्मस्वरूप) हो जाता है।" इसमें दर्शन, मनन एवं ज्ञानादि साधन आत्मरति-रूपा भक्ति के अङ्ग हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यहाँ पर आत्मरति का केवल बौद्धिक अर्थ ही नहीं लेना चाहिए। पराशक्ति-रमण ही आत्मरति है। जब तक पराशक्ति आह्लादिनी अथवा कुण्डलिनी की जागृति होकर क्रियाशीलता अनुभव नहीं होती, तब तक आत्मरति की स्थिति नहीं होती है। जब साधक का चित्त परा-शक्ति की क्रियाओं से शुद्ध होता है, तब वह परा-शक्ति-चैतन्य को जगत् में सर्वत्र

व्याप्त देखता है और सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का ही विराट् स्वरूप देखता, मानता और समझता है। परमात्मा के प्रति उसमें ऐसा प्रेम होता है जिसमें जगत् के नामरूपात्मक स्वरूप के लिए कोई स्थान नहीं होता। वह अपने आपको परमात्मा की गोद में प्रत्यक्ष अनुभव करता है। परमात्मा प्रतिक्षण उसके सन्मुख उपस्थित रहते तथा आनन्द प्रदान करते हैं। इस प्रकार परमात्मा में ही विलीन होकर परमात्मरूप हो जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

दृष्टत्वाच्च ॥१३

संसार में प्रत्यक्ष भी ऐसा ही देखा जाता है कि पहले किसी व्यक्ति विशेष के रूप का वर्णन, गुण का श्रवण अथवा स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है और उसके बाद उसके प्रति अनुराग होता है। दर्शन, श्रवण अथवा ज्ञान का फल प्रीति है, प्रीति का फल ज्ञान नहीं है। अतः ज्ञान अङ्ग है तथा भक्ति अङ्गी (मुख्य) है।

जागृति के उपरान्त शक्ति की क्रियाओं में श्रवण, दर्शन तथा अनुभव से उस का परिचय प्राप्त होता है जिसके उपरान्त भी उसके प्रति चित्त के भाव परानुराग की कोटि में नहीं आते, क्योंकि तब उन सबका आधार भौतिक जगत् होता है।

अतएव तद्भावाद्वल्लवीनाम् ॥१४

ज्ञान की अप्रधानता तथा भक्ति की प्रधानता होने पर केवल परमात्मानुरागरूपा भक्ति से ही बृज की गोपिकाओं की मुक्ति हो गयी—ऐसा पुराणों में वर्णन आया है। 'यथा बृजगोपिकानाम्' कह कर नारद जी ने नारद-भक्तिसूत्र में बृज की गोपियों का भक्त के रूप में उदाहरण प्रस्तुत किया है।

गोपाङ्गनाओं ने वेद-शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था, किसी पाठशाला में विद्या प्राप्त नहीं की थी, शास्त्र की युक्तियों एवं गहराइयों को वे नहीं समझती थीं, ज्ञान एवं योग से पूर्णतया अनभिज्ञ थीं, किन्तु उनका हृदय भगवान् के प्रेम में सदैव तड़पता रहता था। बिना योग सीखे ही उन्हें अपने अन्तर में भगवान् की वंशी, अन्तर्नाद श्रवण होता था। उनके हृदय में भगवान् का प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ था। वे जगत् का व्यवहार, कार्य पूर्ण उत्तरदायित्व, गम्भीरता, शक्ति एवं योग्यता से कर्त्तव्यबुद्धि से ही सम्पादित करती थीं। उनके हृदय में तो बस प्रभु ही विराजमान् थे। जगत्-व्यवहार करते हुए हृदय में भगवान् का प्रेम संजोकर रखना उनके परमानुराग का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

गाँव की सीधी-सादी अनपढ़ ग्वालिनों की प्रेममार्ग में उत्कृष्ट प्रतिभा तथा उनके चित्त की उच्चतम अन्तर्वृत्तियों का दिग्दर्शन भक्त कवि सूर के उद्गारों से प्रकट होता है—'तुम बिन कछु न सुहाय। तदपि हठी हमारे नयना और न देखे भावे।' भगवान् के दर्शन के अतिरिक्त भक्त को कुछ नहीं सुहाता। 'सोवत जागत सपने सौ मुख कान्ह कान्ह री', 'हृदय ते वह श्याम मूरति छिन न इत उत जात।' ऐसा था भगवान् का निरन्तर स्मरण कि उनका मन क्षण-भर के लिए भी इधर-उधर होता ही नहीं। 'सकल लोक सूनो लागत है बिन देखे वा रूप'—भगवान् के दर्शन के आनन्द के अतिरिक्त उन्हें संसार में सब कुछ सूना लगता है। उनकी भक्ति अनुराग-रूपा है—'मोहन बदन विलोकत अँखियन उपजत है अनुराग।' गोपियों का यह अनुराग समस्त सांसारिक इच्छाओं का शमन करने वाला तथा निष्काम भाव से ओत-प्रोत है। उनका प्रेम

भौतिक नहीं, अलौकिक एवं दिव्य है। वे अपनी सुध-बुध खोये हुए भगवद्प्रेम में लीन हैं।

जब ज्ञानी उद्धव विरहिणी गोपियों को ज्ञानमार्ग का उपदेश देने आये तो उनके अटूट प्रेम से प्रभावित होकर स्वयं ज्ञान की बातें भूलकर ज्ञानी से भक्त बन गये—

"ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस॥
इन्द्री सिथिल भई केसो बिन ज्यों देही बिन सीस।
आसा लगी रहत तनु खासा जीजो कोटि बरीस॥
तुम तो सखा स्याम सुन्दर के सकल जोग के ईस।
सूरदास वा रस की महिमा जो पूँछै जगदीस॥"

ज्ञान के गूढ़ रहस्यों से भक्त को कुछ लेना-देना नहीं होता। निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अविनाशी, अदृश्य तथा सर्वव्यापक उस अलख का महत्त्व वे नहीं जानना चाहतीं। ऐसे ब्रह्म का उपदेश या ज्ञान वे नहीं सुनना चाहतीं—

"निर्गुन कौन देस को वासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय सौंह दे, बूझति सांच न हाँसी॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस को अभिलासी॥
पावैगो पुनि कियो आपनो, जो रे ! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो, सूर सबै मति नासी॥"

एकनिष्ठ प्रेम से अभिभूत वे गोपाङ्गनाएँ स्वयं प्रेमरूपा, भक्तिरूपा हो गयी हैं कि उद्धव का ज्ञान-गर्व चूर-चूर हो गया एवं वे प्रेमा भक्ति की महत्ता से भावविभोर हो गये।

भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात् ॥१५

'भक्त्या मामभिजानाति' (गीता १८-५५)—भक्ति से मुझे जानता है। भक्ति से ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गयी है। इसका अर्थ यह है कि भक्ति साधन एवं ज्ञान साध्य मानना उचित नहीं है। क्योंकि वहाँ 'जानाति' नहीं, 'अभिजानाति' कहा गया है। अभिज्ञान का अर्थ पहले से जानी हुई बात का, जिसे किसी कारण जीव भूल जाता है, उसका पुनः स्मरण हो आना है। अर्थात् भक्ति तो चित्तशुद्धि होने का कारण होने से पूर्व प्राप्त ज्ञान के व्यवधान हटाने का कारण होती है, कोई नवीन ज्ञान प्राप्त नहीं करवाती। इसलिए ज्ञान को साध्य एवं भक्ति को साधन मानना उचित नहीं है।

प्रागुक्तं च ॥१६

पहले ज्ञान होता है। तत्पश्चात् भक्ति होती है। यह बात पहले के श्लोक में भी कही गयी है -

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
—गीता १८, ५४

पहले बुद्धि से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता, प्रसन्न रहता, शोक नहीं करता तथा कामना-रहित होता है। सब प्राणियों में उसकी समबुद्धि हो जाती है। तब उसे पराभक्ति की प्राप्ति होती है। गीता के उपरोक्त श्लोक में इसी बात का उल्लेख किया गया है। गौणी भक्ति का अभ्यास करते-करते पठन-पाठन, ज्ञानसञ्चय, आसन, उपासनादि सभी साधन वास्तव में भक्ति की प्राप्ति के लिए ही हैं। नारदभक्तिसूत्र में भी इसी बात की ओर संकेत किया गया है—'फलरूपात्वात्'—

वह फलरूपा है। किन्तु स्मरण रहे कि यहाँ भक्ति का अर्थ सामान्य कर्तृत्वाभिमानयुक्त प्रतीकोपासना नहीं है।

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत् ॥१९

ज्ञान एवं भक्ति की पृष्ठभूमि में दोनों ही सिद्धि के लिए साधनरूप हैं, क्योंकि दोनों में उपकारक होने से दोनों को ही योग की अपेक्षा रहती है। श्रीमद्भागवत् में उद्धवजी के ऐसा पूछने पर भगवान् ने अपने उत्तर में कौन किस साधन का अधिकारी है, यह बतलाया है—जगत् में आसक्त तथा जगत् में रहकर ही भजन करने वाले व्यक्ति के लिए कर्मयोग, जगत् में रहकर किन्तु जगत् से निकलने की इच्छा वाले व्यक्ति के लिए भक्ति तथा जगत् से उदासीन रहने वाले व्यक्ति के लिए ज्ञान-मार्ग श्रेष्ठ है। वहाँ यह भी कहा है कि भक्ति, ज्ञान तथा कर्म तीनों की पृष्ठभूमि में योग साथ रहता ही है। अर्थात् योग तो इन तीनों साधनों को पुष्टि प्रदान करने में इनका सहायक अङ्ग है। यदि यह मान भी लिया जाय कि मुख्यतः तो योग ज्ञान का ही सहायक है, परन्तु जब यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान स्वयं भक्ति का अङ्ग है, तब योग भी अपने आप ही भक्ति का अङ्ग हो गया।

गौण्यातु समाधिसिद्धिः ॥२०

समाधि-सिद्धि तो गौण है। समाधि साध्य नहीं, साधन है। समाधि को योग के आठ अङ्गों के अन्तर्गत माना गया है। समाधि से बाद की अवस्था साध्य है। उस अवस्था की प्राप्ति हेतु कई साधनों में से समाधि भी एक साधन है। भक्ति-मार्ग में यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक साधक को समाधि से ही अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हो। ज्ञान एवं भक्ति दोनों में चित्त-

वृत्ति-निरोध को नहीं; अपितु अखण्डवृत्ति को लक्ष्य बनाया जाता है। वृत्ति-निरोध अथवा समाधि की प्राप्ति भी तो अखण्डवृत्ति की प्राप्ति में सहायक ही होती है।

अखण्ड वृत्ति—चित्त में किसी भी प्रकार की वृत्ति, विचार, भावना, वासना इत्यादि का उदय न होने एवं चित्त के पूर्णतया शान्त हो जाने को वृत्ति-निरोध कहा जाता है। इस अवस्था में चित्त कार्य करना बन्द कर देता है जिससे जगत् के भाव अथवा अभाव का ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। यह योग का मार्ग है। वृत्ति-निरोध आत्मा एवं परमात्मा का सान्निध्य एवं आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने हेतु सम्पादित किया जाता है। बार-बार की समाधि के पश्चात् जब आत्मशक्ति व्युत्थान दशा में आ कर चित्त के साथ पुनः तादात्म्य प्राप्त कर उसे चैतन्यवत् कार्यरत करती है, तब चित्त जगत् के घटनाक्रम से प्रभावित नहीं होता। यही जीवन्मुक्त अवस्था कही जाती है। इस अवस्था में जगत् के भाव का ज्ञान तो होता है, किन्तु जगत् का नाम-रूपात्मक स्वरूप गौण हो जाता है एवं जगत् का आधाररूप तत्त्व चैतन्य सर्वत्र फैला हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसे अखण्डवृत्ति कहा जाता है।

अतः चित्तवृत्तिनिरोध अथवा समाधि की अवस्था गौण है तथा अखण्डवृत्ति ही मुख्य है। यह तो साधक की निज की अवस्था पर आधारित है कि वह वृत्तिनिरोध में से होकर अखण्डवृत्ति में जाता है अथवा साधन करते-करते सीधे ही अखण्डवृत्ति तक पहुँचता है। भक्ति का मार्ग भी समाधि में से होकर जा सकता है, किन्तु समाधि गौण होती है।

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्य शब्दात् ॥२२

अर्थात् कर्मयोगियों, ज्ञानयोगियों तथा योगियों से भी भक्ति श्रेष्ठ है।

नैव श्रद्धातु साधारण्यात् ॥२४

भक्ति श्रद्धारूप ही नहीं है। साधारणतया श्रद्धा किसी कर्म को देखकर उसके प्रति होती है, किन्तु भक्ति में यह बात नहीं है। हाँ, श्रद्धा भक्ति का अङ्ग अवश्य है।

बुद्धिहेतु प्रवृत्तिराविशुद्धे र व घातवत् ॥२७

बौद्धिक स्तर पर अध्यात्म-विषय को समझने, बुद्धि की अशुद्धि को दूर करने, अपनी शङ्काओं का निराकरण करने इत्यादि के लिए श्रवण, मनन आदि की आवश्यकता होती है जिसे बुद्धि-शुद्धि कहा जाता है जो कि अध्यात्म विद्या में सर्वप्रथम अनिवार्यता मानी गयी है। गीता में भी अठारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं--"बुद्धया विशुद्धया युक्तः"— अर्थात् यदि कोई आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे शुद्ध बुद्धि से युक्त होना चाहिए। पठन-पाठन, श्रवण, मनन, अध्यात्म-विचार इत्यादि से, सत्सङ्ग एवं शङ्का-समाधान से बुद्धि की शुद्धि होती है। जिस प्रकार धान को तब तक कूटते रहना चाहिए जब तक कि सारी भूसी अलग न हो जाय, इसी प्रकार जब तक बुद्धि शुद्ध न हो जाय तब तक पठन-पाठन एवं श्रवण-मनन आदि साधनों का आश्रय लेकर बुद्धि पर एक के पश्चात् एक चोट करते रहना चाहिए।

तदङ्गानां च ॥२८

उपरोक्त बुद्धि-शुद्धि हेतु जिन श्रवण, मनन आदि शास्त्रों का उल्लेख किया गया है, उनके अङ्गभूत पूजा-पाठ, उपासना,

शास्त्र-विचार, आसन, प्राणायाम तथा गुरुसेवन, यम-नियमों का पालन इत्यादि अभ्यास करते रहना चाहिए।

आचार्य कश्यप के मतानुसार ईश्वर तथा जीवात्मा में सर्वथा भेद है। जब बुद्धि एक मात्र ईश्वर का आश्रय ग्रहण करती है, तभी उसका मोक्षदायी स्वरूप विकसित होता है, क्योंकि परमेश्वर सभी जीवों से परे तथा अलग है। इसके विपरीत महर्षि वेदव्यास चैतन्यस्वरूप आत्मा का आश्रय लेने वाली बुद्धि को मोक्षदायिनी स्वीकार करते हैं, क्योंकि इनके मतानुसार शुद्ध चैतन्य सत्ता ही एक मात्र परमार्थ सत्य है और परमेश्वर तथा आत्मा का भेद कल्पना मात्र है।

उभयपरां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम् ॥३१

किन्तु महर्षि शाण्डिल्य के मतानुसार वेदवाक्य तथा युक्ति के आधार पर ब्रह्म एवं जीवात्मा दोनों का आश्रय मुक्तिदायी स्वीकार करते हैं।

कहने का भाव यह है कि महर्षि शाण्डिल्य जीवात्मा को परमात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। वे अद्वैतवादी हैं। ईश्वर ही अपने सङ्कल्पानुसार इस जगत् के रूप में प्रकट होता है। नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् के कण-कण में परमात्मशक्ति निवास करती है। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि सभी जीवों के शरीर भौतिक तत्त्वों से बने हैं; किन्तु वास्तव में वे पञ्चभूत ईश्वर की शक्ति के ही जड़रूप हैं तथा इस भौतिक शरीर में ईश्वर की सत्ता चेतन आत्मा के रूप में प्रतिबिम्बित होती है। वास्तव में सारा जगत् एक है; किन्तु अनेक रूप भासित होता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो जीव भी परमात्मा का ही एक रूप है। एक ईश्वर के अनेक रूपों में भासित होने के कारण ही जीवात्मा को ईश्वर से भिन्न कहा जाता है।

साधन केवल द्वैत में ही सम्भव एवं आवश्यक है। अद्वैत में न किसी साधन की आवश्यकता है और न ही सम्भव है। जीव के चित्त पर जब संस्कारों, वासनाओं एवं विकारों के आवरण आच्छादित हो जाते हैं तो जीवभाव पैदा हो जाता है। जीव अपने को बहुत छोटा मानने लगता है। उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है। वह कुछ-का-कुछ सोचने, समझने तथा मानने लगता है। शक्ति के अन्तर्मुखी जागृत होकर प्रति-प्रसवक्रम में कार्यशीला होने पर जीव के चित्त से संस्कारों एवं वासनाओं के आवरण हटने लगते हैं। चित्त निर्मल हो जाने अथवा माया का आवरण हट जाने पर जीव की अपनी भूली हुई पहचान लौट आती है जिसे अभिज्ञान कहा जाता है। तब जीव, जीव न रहकर, शुद्ध आत्मतत्त्व में लौट आता है। ऐसी अवस्था में उस का साधनक्रम भी समाप्त हो जाता है। चैतन्य शक्ति भी चित्तशुद्धि के अपने सभी कार्य समाप्त हो जाने के कारण आत्मा में विलीन हो जाती है।

जगत् का ज्ञान प्राप्त करने का यन्त्र यह चित्त ही है जो कि जड़रूप है। अर्थात् चित्त अपने आप कुछ क्रिया करने की क्षमता नहीं रखता। जिस प्रकार यन्त्र को कार्य करने के लिए बिजली इत्यादि बाह्य शक्ति की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार चित्त को कार्य करने के लिए भी अन्य शक्ति की आवश्यकता होती है जिसे आत्मा की चैतन्यशक्ति चित्त पर प्रतिबिम्बित होकर चित्त से तादात्म्य स्थापित करके पूरा करती है। शक्ति की आपूर्त्ति होने पर चित्त चैतन्यवत् कार्य-शील हो उठता है तथा उसे इन्द्रियों के सहयोग से जगत् दिखायी देता है। जगत् दिखायी देने पर आत्मा अद्वैत से द्वैत में आता है। यह सब शक्ति के प्रसवक्रम में जगदाभिमुखी

प्रवाहित होने पर ही सम्भव होता है। इस स्थिति में शक्ति इन्द्रियों तथा चित्त के साथ अभिन्न प्रतीत होती हुई जगत् के कार्य करती है। जब तक जीव जगत् में आसक्त होकर उसके प्रति आकर्षित रहता है, तब तक वह अपनी आत्मा की ओर से उदासीन रहता है। इसी कारण शक्ति के जगत् में कार्यशीला रहने को उसकी प्रसुप्त अवस्था कहा जाता है। जब शक्ति जागृत होती है, तब उसका प्रवाह जगत् की ओर से हट कर आत्मा की ओर हो जाता है और उस की अनुभूति इन्द्रियों आदि के आधार पर न होकर इन से भिन्न प्रतीत होती है। इसे ही योग-मार्ग में कुण्डलिनी तथा भक्ति-मार्ग में आह्लादिनी शक्ति की जागृति कहा जाता है।

जब तक जीव जगत् में आसक्त एवं आकर्षित रहता है, उसकी वृत्ति चञ्चल बनी रहती है। उसके समक्ष जगत् के अनेकानेक विषय रहते हैं, अतः अपनी एकाग्रता का विषय बड़ी शीघ्रतापूर्वक परिवर्त्तित करता रहता है। उसके चित्त का प्रेम परिवार, सम्पत्ति, घरबार, खेती, सुखसाधन-सामग्री, यश, अपयश, शरीर इत्यादि अनेकों विषयों में विभक्त रहता है। इसीलिए समर्थ रामदास ने कहा है कि जिस मनुष्य की वृत्ति जगत् में चञ्चल होती है, वह विभक्त होता है। किन्तु जब शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत होकर जगत् में निर्मित अपने कार्य को समेटती एवं चित्त में वासनाओं, विकारों को क्षीण करती हुई आत्माभिमुखी अग्रसर होती है तो वही विभक्त मनुष्य भक्त हो जाता है।

शक्ति के जगदाभिमुखी प्रवाह को प्रसवक्रम तथा अन्तर्मुखी प्रवाह को प्रतिप्रसवक्रम कहा जाता है। तब शक्ति का चक्र उलटा घूमने लगता है। संस्कार-सञ्चय करने के स्थान

पर वह संस्कार-क्षय करना आरम्भ कर देती है। साथ ही वासनाएँ एवं विकार भी तनु होने लगते हैं। संस्कारों के क्षय होने पर बुद्धि पर पड़ा अविद्या का वह आवरण जिसके कारण बुद्धि का विपरीत विचार आरम्भ हो गया था, पतला पड़ने लगता है। शक्ति प्रतिप्रसवक्रम में आत्मा की ओर बढ़ते और चित्त एवं चैतन्य के तादात्म्य को तोड़ते हुए आत्मा में लौट जाती है। इसी को जड़ एवं चेतन की ग्रन्थि खुल जाना कहा है। वेदान्त में इसको चिज्जड़-ग्रन्थि कहते हैं अर्थात् आत्मा की चैतन्य शक्ति का चित्त की जड़ता के साथ तादात्म्य होने पर दोनों ऐसी अभिन्न अवस्था में आभासित होते हैं कि उनका भिन्नत्व सर्वथा ढक जाता है। तब इन दोनों की ऐसी अभिन्नता उदय होती है कि लाख प्रयत्न करने पर भी भिन्नत्व अनुभव ही नहीं होता।

जड़ और चेतन की ग्रन्थि खुल जाने पर जड़ चित्त पूर्ववत् जड़ हो जाता है। उसकी सभी कार्यशीलता समाप्त हो जाती है। इन्द्रियों के साथ संयोग होने पर जगत् का अनुभव उस पर प्रतिबिम्बित होना बन्द हो जाता है। जगत् उसके समक्ष हो अथवा उस का अभाव हो, दोनों ही स्थितियों का तब चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि जगत् के भाव तथा अभाव का ज्ञान प्राप्त करने वाला यंत्र—चित्त—निरुद्ध होकर कार्य करना बन्द कर देता है। अध्यात्ममार्ग में इसे ही समाधि की अवस्था कहा गया है।

जैसा कि योगदर्शन में अष्टाङ्ग योग की व्याख्या से स्पष्ट है, समाधि भी साधन है, साध्य नहीं है। इसकी गणना भी योग के आठों अङ्गों के अन्तर्गत की गयी है। समाधि की अवस्था तो केवल इसलिए प्राप्त की जाती है ताकि इस जगत् से हट-

कर आत्मा के आनन्द को अनुभव किया जा सके। समाधि में प्राप्त आनन्द यदि जागृत अवस्था में ही आने लगे तो उस अवस्था को तुरीय कहा जाता है और उसी अवस्था के प्राप्त्यर्थ समाधि साधन रूप होती है। तब दृश्यमान् जगत् दिखायी देता हुआ भी गौण रहता है। चित्त कार्य करता हुआ भी सुख-दुःखादि अनुभव नहीं करता। संस्कारों का संचय नहीं होता। जागृत में भी समाधि का आनन्द लूटने के लिए ये सब अध्यात्म-मार्ग की साधनाएँ हैं।

आह्लादिनी शक्ति जो परा शक्ति कुण्डलिनी का भक्ति-मार्गीय नामान्तर मात्र है, उसके जागृत एवं क्रियाशीला होने पर साधक के चित्त एवं शरीर में वही क्रियाएँ अनुभव में आती हैं जो उस शक्ति को कुण्डलिनी का नाम देने वाले अनुभव करते हैं। जब चित्त के संस्कार भावों एवं रसों के रूप में परिणित होकर क्रियाओं का रूप धारण करते हैं तो साधक का हृदय गद्गद् हो जाता है। भगवत् प्रेम में अश्रुपात, हसना, गाना, चिल्लाना, नाचना आदि होने लगता है एवं उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। इसे भक्तिमार्ग की क्रियाएँ कहा जाता है। जब शक्ति की क्रियाशीलता मन एवं शरीर के आधार पर घटित होती है तो उसे योग मार्ग की क्रियाएँ कहा जाता है। वेदान्त में उस शक्ति को प्रज्ञान का नाम देकर अन्तर्मखी क्रिया-शीला बनाया जाता है। वही परा शक्ति बुद्धि के आधार पर क्रियाशीला होती है तो उसकी क्रिया को ज्ञान योग की क्रिया कहा जाता है। ये सभी साधनाएँ, उपासनाएँ, अनुभूतियाँ तभी तक सम्भव होती हैं जब तक आत्मिक शक्ति आत्मा से भिन्न चित्त पर प्रतिबिम्बित होकर चित्त को कार्यशील बनाए रखती है। इसे अध्यात्म में द्वैत की अवस्था कहा जाता है। साधना इसी

स्थिति में संभव होती है। चित्त से अविद्या के हटते अर्थात् शक्ति के आत्मा में विलीन होते ही सभी साधनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसीलिए महर्षि शाण्डिल्य ने चिद्घन रूप आत्मा का व्यष्टि स्तर पर एवं परमात्मा का समष्टि स्तर पर आश्रय लेने की बात कही है।

वैषम्याद सिद्धमिति चेन्नाभिज्ञानवद वैशिष्ट्यात् ।।३२

ब्रह्म तथा जीव अथवा आत्मा और परमात्मा को दो भिन्न तत्त्व मानकर दोनों का भिन्न आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये दो हैं ही नहीं। केवल व्यष्टि एवं समष्टि स्तर का ही अन्तर है। समष्टि स्तर पर परमात्मा एवं व्यष्टि स्तर पर आत्मा के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। जैसे धूप में सौ मटके पानी के भरकर रख दिये जायें तो प्रत्येक घट में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है। सूर्य सौ नहीं हो जाते, एक ही रहता है। घट-भेद से एक ही सूर्य अनेक रूपों में विभक्त-सा दिखायी देता है। यदि ठोकर से एक घट को तोड़ दिया जाय तो उस घट में प्रतिबिंबित सूर्य सूर्यरूप ही हो जायेगा। इसी प्रकार प्रत्येक जीव के शरीर में (जिसे अध्यात्म में घट की ही उपमा दी जाती है) ब्रह्मरूपी सूर्य प्रतिबिम्बित है जिसे आत्मतत्त्व कहा जाता है। माया, अविद्या अथवा गुणों के संयोग में आने पर भी आत्म तत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्म-तत्त्व स्वयं प्रकाशित, अनिर्वचनीय एवं अपरिवर्त्तनीय है, किन्तु शरीर की परिधि में सीमित-सा प्रतीत होता है एवं चित्त में उदय होने वाली प्रत्येक वृत्ति के अनुरूप ही भासता है। वास्तव में आत्म-तत्त्व न तो चित्त की वृत्तियों से प्रभावित ही होता है, न उसमें परिवर्त्तन ही संभव है और न ही परमात्मा से अलग कोई भिन्न तत्त्व है। सांख्य में अवश्य कई पुरुषों अर्थात् आत्माओं की

कल्पना की गयी है; किन्तु उन सभी आत्माओं का एकत्व स्थापित करना और उसे ब्रह्म का रूप देना सांख्य का विषय नहीं था। इसलिए सांख्य अपने अधिकार से आगे न बढ़कर वहीं तक रहा है। सभी आत्माओं में एकत्व स्थापित कर उसे समष्टि स्तर पर ब्रह्म का रूप देना वेदान्त का विषय है।

न च क्लिष्टः परः स्यादनंतरं विशेषात् ॥३३

जीवात्मा तथा परमात्मा में एकत्व मानने पर भी एक विषय पर इनकी भिन्नता प्रदर्शित होती है। योगदर्शनकार ने सांख्य के आधार पर पहले तो अनेक पुरुषों की बात कही है और फिर उन सब पुरुषों को परमात्मा कहकर उनमें एकत्व स्थापित कर दिया है तथा उसे 'पुरुष विशेष' की संज्ञा दी है। 'पुरुष विशेष' को क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय नहीं छू सकते अर्थात् पंचक्लेश आत्मा को प्रभावित नहीं करते। आत्मा कोई व्यवहार नहीं करता, उसे कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता तथा उसके कर्मों के संस्कार भी संचित नहीं होते। किन्तु जीव को ये चारों प्रभावित करते हैं। वह क्लेशों से आवृत कर्मों का कर्त्ता, फल का भोक्ता एवं संस्कारों का संचयकर्त्ता है। यही एक विषय ऐसा है जिस पर ब्रह्म तथा जीव का भिन्नत्व प्रदर्शित होता है।

वास्तव में चित्त में आत्मा की जिस चैतन्य शक्ति के संयोग के कारण जीवभाव उदय होता है, उस का क्लेश इत्यादि चारों बातों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु उस चैतन्य शक्ति से जो मिथ्या जीवभाव पैदा होता है, वही स्वरूप-अज्ञान से कर्त्ता-भोक्ता बन बैठता है। यही जीव-भाव क्लेशों से प्रभावित होता तथा संस्कार-सञ्चय करता है। चैतन्य शक्ति तो अपने

उद्गम आत्मा की तरह ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्तस्वरूप होती है।

ऐश्वर्यं तथेति चेन्न स्वाभाव्यात् ॥३४

भक्त को अपने चित्त में भाव पैदा करने के लिए सर्व-शक्तिमान एवं सर्व ऐश्वर्यशाली परमेश्वर की आवश्यकता प्रतीत होती है। निर्गुण ब्रह्म अपनी सर्व शक्ति एवं ऐश्वर्य को समेट कर अपने में विलीन कर लेता है। किन्तु वही निर्गुण सगुण स्थिति में आकर अपनी शक्तियों एवं ऐश्वर्य का विस्तार करता है। भगवान् का ऐश्वर्य क्लेश नहीं; अपितु उसका स्वभाव होता है। ईश्वर को उस ऐश्वर्य से क्लेश नहीं होता। किन्तु जीव उस अनन्त ईश्वरीय ऐश्वर्य की छटा-स्वरूप अपने प्रारब्ध के वशीभूत होकर तनिक ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है तो अभिमान में भर जाता है। जीव और ईश्वर में यही अन्तर है। ब्रह्म ही सगुण होकर ईश्वर हो जाता है।

अप्रतिषिद्धं परैश्वर्यं तद्भावाच्च नैवमितरेषाम् ॥३५

यदि हम जीव और ब्रह्म में ऐक्य स्थापित करते हैं तो ब्रह्म के गुण जीव में होने स्वाभाविक हैं। ब्रह्म अथवा ईश्वर को तो क्लेश प्रभावित करते ही नहीं, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो जीव को भी क्लेश प्रभावित नहीं कर पाते। जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि जीवभाव चित्त पर प्रतिबिम्बित शक्ति में ही होना सम्भव है, क्योंकि चित्त तो जड़ है। जड़ में कोई क्रिया सम्भव नहीं है। चित्त तो केवल सिनेमा के परदे के समान है जिस पर फिल्म का प्रतिबिम्ब चित्रित होता है। परदा अपने अन्दर से या स्वतः कोई चित्र प्रदर्शित नहीं करता। यदि परदे पर फिल्म के माध्यम से प्रकाश पड़ना बन्द हो जाय

तो सभी चित्त विलीन हो जायेंगे। इसी प्रकार चित्तरूपी परदे पर जब तक आत्मा की चैतन्य शक्ति प्रतिबिम्बित होती रहती है, तभी तक उस में क्लेश, संस्कार, भाव, विकार, वृत्तियाँ, विचार इत्यादि उदय होते हैं। चित्त तो केवल आधार है। उस पर कार्य करने वाली शक्ति चैतन्य है। अतः जीवभाव भी चित्तरूपी परदे के संयोग से शक्ति में उदय होने वाला एक भाव है। यदि इस भाव को शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो चित्त पर जैसे-जैसे दृश्य बदलते रहते हैं अर्थात् कभी क्रोध का भाव तो कभी अभिमान का, कभी शुभ विचार तो कभी अशुभ, वैसे ही क्लेशों का प्रभाव भी परिवर्त्तित होता रहता है। अतः एक दृष्टि से देखने पर जीव ही परिवर्त्तनशील है।

सर्वानृते किमिति चेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात् ॥३६

कई लोग शङ्का करते हैं कि जब एक के पश्चात् एक जीव मुक्त होते चले जायेंगे तो एक समय ऐसा भी आयेगा जब सभी जीवों की मुक्ति हो जायेगी और ईश्वर के ऐश्वर्य का प्रयोजन शेष नहीं रह जायेगा, क्योंकि तब न भगवान् के भक्त रहेंगे और न ही संसार के सामान्य प्राणी रहेंगे। तब इस ऐश्वर्य को देखने तथा इस का गुणगान करने वाला भी कोई नहीं रह जायेगा। ऐश्वर्य का प्रयोजन समाप्त हो जाने पर इस जगत् का क्या होगा? बड़ा विचित्र-सा प्रश्न है।

सृष्टि की रचना भगवान् ने की है। वही उसकी देख-भाल करने वाला है। यह तो भगवान् का ही वि य है कि जगत् को समेटे अथवा क्या करे? जीव को जगत् की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जीव अनन्त, असंख्य हैं। उनमें से लम्बे काल के पश्चात् कोई एकाध जीव ही मुक्त हो पाता है,

अधिकांश जीव तो आध्यात्मिक दृष्टि से ऊपर-नीचे ही होते रहते हैं। कभी जगत् की ओर अग्रसर होते हैं तो कभी अध्यात्म की ओर। आत्यन्तिक निवृत्ति तो उसी जीव की होती है जो चित्त पर से माया का आवरण सदैव के लिए उतार फेंकता है। अतः ऐसा समय कभी आने वाला नहीं है कि जब जगत् के सभी जीव मुक्त हो जायें और ईश्वर को अपना ऐश्वर्य समेटने की आवश्यकता पड़े।

जीव का अर्थ यहाँ पर चित्त अथवा बुद्धि से है जिसमें इस जगत् के दृश्य प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। जीवोपाधि से बुद्धि भी अनेकों प्रकार की है। उन सभी का विलीन हो जाना असम्भव है।

प्रकृत्यन्तरालाद् वै कार्यं चित्सत्वै नानु वर्तमानात् ॥३७

परमेश्वर में अनन्त शक्ति है। वह शक्ति ईश्वर से उदय होकर प्रकृति का रूप धारण करती है तथा प्रकृति जगत् के रूप में परिवर्त्तित होती है। ईश्वर तथा उसकी शक्ति तो सदैव अपरिवर्त्तनशील एवं निर्विकार हैं, किन्तु प्रकृति जगत् के रूप में परिवर्त्तित होकर विकृत होती है। ईश्वर तो अपनी सत्ता से प्रकृति में अनुगत है। इसी से उस में कर्तृत्वरूप ऐश्वर्य तो है, किन्तु विकृति नहीं है।

तत्प्रतिष्ठा गृहपीठवत् ॥३८

यदि माया अथवा प्रकृति द्वारा ही जगत् की सृष्टि होती है, तब तो यह जगत् माया में ही प्रतिष्ठित है। इसके सम्बन्ध में महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं कि माया अथवा प्रकृति ब्रह्म में प्रतिष्ठित है और जगत् माया में, तो जगत् अपने आप ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। जैसे कि कोई व्यक्ति पीढ़े पर बैठा है और पीढ़ा

घर में रक्खा है तो यही कहा जायेगा कि वह व्यक्ति घर में बैठा है। इसी प्रकार इस जगत् की प्रतिष्ठा ब्रह्म में समझ लेनी चाहिए।

तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्यः ॥४३

बुद्धि अथवा अन्तःकरण की परिशुद्धि का ज्ञान लौकिक प्रीति की तरह बाह्य लक्षणों से होता है। जैसे जगत् में प्रियतम की चर्चा छिड़ जाने पर प्रियतमा के अश्रुपात होने आदि से उस के हृदय की आन्तरिक अवस्था का पता लगता है, उसी प्रकार भगवत्-कथा, नाम-कीर्तन, भजन, प्रतिमा या चित्र के समक्ष जाने, कोई सद्शास्त्र पढ़ने आदि में रोमाञ्च, शरीर में कम्पन, घूर्णा, अश्रुपात आदि बाह्य लक्षण प्रकट हो जाते हैं जो भक्त के आन्तरिक हृदय की कोमलता, भगवद्प्रेम, बुद्धि की शुद्धि आदि के द्योतक होते हैं।

सम्मान बहुमान प्रीति विरहेतर विचिकित्सा महिम ख्याति तदर्थ प्राण स्थान तदीयता सर्व तद् भावा प्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ॥४४

उपरोक्त सूत्र में महर्षि शाण्डिल्य ने परा भक्ति में उदय होने वाले कुछ अन्य लक्षणों का वर्णन किया है। ये सब चित्त की स्वाभाविक स्थिति के अनुकूल घटित होते हैं—

१—अर्जुन की भाँति भगवान् के प्रति सम्मान का भाव।

२—इक्ष्वाकु की तरह नाम अथवा वर्ण के प्रति अधिक सम्मान का भाव।

३—विदुर की भाँति भगवान् अथवा भगवद्भक्त के दर्शन से अनुराग।

४ - गोपियों की भाँति भगवद्वियोग की अनुभूति।

५—उपमन्यु की भाँति भगवान् की विरोधी वस्तुओं में अरुचि होना।

६—भीष्म की भाँति भगवान् की महिमा का निरन्तर वर्णन।

७—हनुमान जी की भाँति भगवद्सेवा अथवा बलि की भाँति समर्पण-भाव।

८—प्रह्लाद की भाँति सभी में भगवद्भाव।

९—युधिष्ठिर की भाँति भगवान् के प्रतिकूल आचरण कभी न करना।

द्वेषादयस्तु नैवम् ॥४५

यहाँ पर एक शङ्का की गयी है कि अपने स्वामी, गुरु अथवा भगवान् के प्रेमी एवं समर्पणयुक्त सेवकों में तो इस बात पर द्वेष अथवा ईर्षा के भाव प्रकट होते हैं कि किस पर उन का कम अथवा अधिक प्रेम है। जिनके प्रति अधिक प्रेम होता है, उनके प्रति अन्य सेवकों में द्वेष इत्यादि पैदा हो जाते हैं। तो क्या यह भी भक्ति का ही स्वरूप है? समाधान है कि भगवान् के भक्तों में द्वेष नहीं होता। यही उनकी स्वाभाविक भक्ति का महत्वपूर्ण लक्षण है। जो साधक किसी कारणवश अथवा ईर्षा, द्वेष के कारण अन्य सेवकों तथा गुरुबन्धुओं के प्रति विरोधी भावनाएँ रखते हैं, उनके लिए यह विशेष विचारणीय विषय है। कहा भी है—

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे॥

—महा०, अनु०, १४०, १३५

भगवान् पुरुषोत्तम जिन प्रेमी भक्तों के हृदय में पूर्ण प्रतिष्ठित हो गये हैं, उनमें क्रोध, मात्सर्य, लोभ और अशुभ बुद्धि नहीं होती। भाव यह है कि जब तक किसी मनुष्य विशेष में क्रोध, लोभ, मोह, मद अथवा ईर्षा, द्वेष विद्यमान रहते हैं, तब तक वह वास्तव में भगवान् का भक्त नहीं होता।

यद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा ॥४६

भगवान् के अवतार-विग्रहों के प्रति भी जो भक्ति होती है, वह परा भक्ति ही है। गीता में भी भगवान् ने पहले देव-भक्तों को देवताओं की प्राप्ति बताकर अन्त में अपने भक्तों को अपनी प्राप्ति होना बताया है (गीता ७, २३)।

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥४९

भगवान् के जन्म एवं दिव्य कर्मों में मुख्य हेतु अपने भक्तों के प्रति उनकी करुणा का भाव ही होता है। भक्तों का कष्ट हरने, उन्हें सुख देने तथा लीलाओं इत्यादि के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। जब-जब धर्म की अत्यन्त हानि होती है, तब-तब भगवान् धर्म की स्थापना के लिए करुणामय होकर अवतार धारण करते हैं। गीता में भगवान् ने कहा भी है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

× × ×

सुकृतजत्वात् परहेत भावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः ॥७१

पूर्वोक्त कीर्तन, पूजन, उपासना, जप इत्यादि जितनी भी गौणी भक्तियाँ हैं, सब चित्त की पूर्व भूमिका होने पर ही प्राप्त होती हैं। ये सभी गौणी भक्ति के अङ्ग हैं जो परा भक्ति की

प्राप्ति में सहायक होते हैं। अतः जगत् के अन्य सभी कर्मों की अपेक्षा परा भक्ति अधिक कल्याणकारिणी होती है।

गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुयर्थत्वात् साहचर्यं ॥७२

गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है—आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी। ज्ञान-भक्ति तो परा भक्ति है। उसके साथ उपरोक्त तीनों प्रकार की भक्तियों का उल्लेख उनकी प्रशंसा करने के लिए किया गया है।

गीता में भगवान् ने चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया है—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। इनका अर्थ प्रायः इस प्रकार किया जाता है—

आर्त्त—जो मनुष्य अपने अभावों, क्लेशों, कष्टों इत्यादि से अत्यन्त दुःखी हो जाता है तथा उनकी निवृत्ति के लिए कामनायुक्त होकर भजन करता है, उसको आर्त्त भक्त कहा जाता है।

जिज्ञासु—जिसमें भगवद्-ज्ञान की जिज्ञासा पैदा हो गयी है, वह जिज्ञासु कहा जाता है।

अर्थार्थी—जो अर्थ अथवा धन की प्राप्ति के लिए भगवान् का सकाम भजन करता है, उसे अर्थार्थी भक्त कहा जाता है।

ज्ञानी—जिस भक्त को भगवान् का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह ज्ञानी कहा जाता है।

भक्तों की इन चारों श्रेणियों का अर्थ दूसरे प्रकार से भी लिया जाता है जो हमारे विचार में सही है। इसमें आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी का क्रम भी यथावत् ही बना रहता है। एक बात यह भी है कि यदि उपरोक्त अर्थ ही लिये

जायें तो आर्त्त एवं अर्थार्थी का एक ही अर्थ है। अपने अभावों की पूर्त्ति के लिए साधनरत एक ही प्रकार के भक्तों का दो भिन्न नामों से वर्णन करना उचित प्रतीत नहीं होता।

आर्त्त—वह भक्त जो जगत् के विषयों, परिस्थितियों इत्यादि से अत्यन्त दुःखी हो गया है। इनसे पीछा छुड़ाना चाहता है। तदर्थ प्रयत्न भी करता है, किन्तु सफल नहीं हो पाता। तब वह आर्त्त अर्थात् दुःखी होकर भगवान् के समक्ष प्रार्थी होता है—"हे प्रभो! जगत् के इन विषयों से मेरा पीछा छुड़ाओ। मैंने सभी प्रयत्न करके देख लिये। जप, तप, यज्ञ, सत्सङ्ग, तीर्थयात्रा इत्यादि विषयों का आकर्षण एवं आसक्ति मेरे हृदय में ऐसे गहरे पैठे हैं कि मेरा पीछा ही नहीं छोड़ते। हे प्रभो! मैं आपकी शरण में हूँ। मेरी लाज बचाइये तथा इन विषयों से मेरा पिण्ड छुड़ाइये।" भक्त की यह स्थिति आर्त्त कही जाती है।

जिज्ञासु—जब भक्त जगत् के विषयों को पाने के लिए नहीं, अपितु दुःखी होकर उनसे छुटकारा पाने के लिए भगवत् प्राप्ति का प्रयत्न करता है तो उसकी समझ में यह बात आ जाती है कि जब तक वह भगवान् में संयुक्त नहीं होता, तब तक जगत् के विषय पीछा नहीं छोड़ेंगे। अतः उसकी प्रार्थना में जगत् के विषयों से पीछा छुड़ाने के साथ ही साथ भगवान् के चरणों में मन लगने की प्रार्थना भी सम्मिलित हो जाती है।

अर्थार्थी—जब भक्त केवल चित्त की भावनाओं तथा प्रार्थनाओं से ऊपर उठकर भजन में लग जाता है अर्थात् भगवान् की प्राप्ति के साधन पर आरूढ़ हो जाता है, तो ऐसे भक्त को अर्थार्थी कहते हैं। वास्तव में अर्थ केवल एक ही है

और वह है परमात्मा। शेष सब तो अनर्थ ही हैं जो सभी व्यर्थ हैं।

ज्ञानी भक्त—जिसे परमप्रेमरूपा भक्ति अर्थात् परा भक्ति प्राप्त हो गयी है, उसे ज्ञानी भक्त कहते हैं। अर्थात् जिसमें दीर्घकालीन, सतत् एवं श्रद्धापूर्वक साधन, भजन करते-करते अथवा गुरु-कृपा के फलस्वरूप आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत, प्रकाशित एवं क्रियाशीला हो गयी है, जिसके समक्ष ईश्वरीय शक्ति केवल कल्पना का ही विषय नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है,—ऐसे भक्त को ज्ञानी भक्त कहा जाता है।

स्मृति कीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्त भावात् ।।७४

आर्त्त भक्ति में प्रायश्चित्तरूप स्मरण, कीर्तन, श्रवण इत्यादि भक्ति के विविध अङ्गों का विधान है।

भाव यह है कि जीव अपने जीवन में विषयों के पीछे भटकते हुए अनेकों शुभ-अशुभ एवं उचित-अनुचित कर्म करके अपना चित्त मलीन करता है। उन कर्मों के प्रायश्चित्तस्वरूप स्मरण, श्रवण इत्यादि की आवश्यकता है। प्रायश्चित्त का अर्थ है—अपने अशुभ कर्मों को क्षीण करने के लिए सात्त्विक एवं शुभ-कर्मानुष्ठान करना।

श्रानिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ।।७८

उच्च जातियों से लेकर चाण्डाल इत्यादि निम्न जातियों तक भक्ति में सब का एक समान अधिकार है।

जैसे अहिंसा इत्यादि यम, नियमों के पालन में सब का समान अधिकार है। महापुरुषों, सद्शास्त्रों तथा गुरुओं के

उपदेशों से यही बात ज्ञात होती है। कुछ लोग भक्ति में उच्च वर्गों के एकाधिकार की बात कहते हैं। यह शास्त्र-सम्मत नहीं है।

महापातकीनांत्वातौ ॥८२

प्रश्न है कि यदि निम्न जातियों के मनुष्यों का भी भक्ति में अधिकार है तो महा पापी मनुष्यों का भी हो सकता है। सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं कि जिन मनुष्यों से कुछ ऐसे पाप-कर्म हो गये हैं जिनके कारण वे महा पापी बन गये हैं, ऐसे लोगों का अधिकार केवल आत्मभक्ति में है। अर्थात् पहले उनकी भक्ति प्रायश्चित्त स्वरूप होती है। चित्तशुद्धि के हेतु भगवान् से बार-बार प्रार्थना करके पाप-निवृत्ति हो जाने पर उनका भक्ति में अधिकार होगा।

परां कृत्वैव सर्वेषां तथा ह्याह ॥८४

परा भक्ति की प्राप्ति होने के उपरान्त भी श्रवण, स्मरण एवं कीर्तन आदि गौणी भक्ति के अङ्गों का मुक्ति में उपयोग होता है। अर्थात् ये साधन मुक्ति के साक्षात् उपाय नहीं हैं। प्रथम परा भक्ति को प्राप्त करवाते हैं और फिर उसी के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में कारण बनते हैं।

प्रश्न उठता है कि शक्ति-जागृति के उपरान्त गौणी भक्ति के अभ्यास की आवश्यकता है या नहीं? कई लोगों का विचार है कि जब उच्च स्तर अर्थात् परा भक्ति की प्राप्ति हो गयी तो फिर निम्न स्तर अर्थात् गौणी भक्ति के अनुष्ठान की क्या आवश्यकता है? ऐसे विद्वानों की बात को एकदम अमान्य भी नहीं किया जा सकता। इसकी कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि चित्तशुद्धि का शेष कार्य क्रियाओं के माध्यम

से अपने आप होता रहता है। किन्तु यह बात भी अपना कुछ महत्व रखती है कि जप, उपवास, कीर्तन, पूजन आदि गौणी भक्ति के जिन अङ्गों का साधक पहले से ही अनुष्ठान करता चला आ रहा होता है, उनके प्रति भाव एकदम समाप्त कर देना असम्भव होता है। दूसरे, चित्त में गौणी भक्तिजन्य सञ्चित संस्कार भी शेष हो सकते हैं जो चित्त में उन साधनाओं के प्रति भाव उत्पन्न कर साधक को उनकी ओर प्रेरित करते हैं। जैसे-जैसे पूर्व अनुष्ठित संस्कारों के प्रति भाव एवं तत्सम्बन्धी पूर्व संचित संस्कार क्षीण होते जाते हैं, बाह्य गौणी भक्ति की साधनाएँ स्वतः ही छूटती जाती हैं। परा भक्ति के पश्चात् भी गौणी भक्ति के अनुष्ठान का निर्देश महर्षि शाण्डिल्य ने निम्न सूत्र में दिया है—

तासु प्रधानयोगात् फलाधिक्यमेके ॥६०

अर्थात् पूर्वोक्त कीर्तन, भजन, जप, पूजनादि साधनों में मुख्य परा भक्ति का विरोध बतलाया गया है। परन्तु परा भक्ति से युक्त भक्त यदि कीर्तन, भजन, आसनादि करे तो अधिक फल प्राप्त होता है। देखने में भी आता है कि कई साधकों को परा भक्ति के पश्चात् भक्ति की अत्यन्त वेगवान तीव्र क्रियाओं का आवेश भी रहता है, किन्तु फिर भी उनके मन में क्रियाओं से अलग जपानुष्ठान, भजन, कीर्तन एवं उपवास आदि का भाव बना ही रहता है। यदि कोई व्यक्ति उन्हें लाख समझाए कि गौणी भक्ति के इन अङ्गों की अब आवश्यकता नहीं है, तो भी उन का मन नहीं मानता और वे अपनी ओर से कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं।

इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि ऐसे लोगों की साधना में कोई हस्तक्षेप न किया जाय। जैसे-जैसे उन की वृत्ति एवं

आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी विकसित होती जायेगी, वैसे-ही-वैसे भक्ति के बाह्य अवलम्बन अपने आप छूटते जायेंगे। इसीलिए हम न किसी साधक को कुछ करने के लिए कहते हैं और न ही उसे किसी बाह्य कर्तृत्वाभिमानयुक्त साधन से निवृत्त करने का ही प्रयत्न करते हैं।

इस पर हमें एक घटना याद आ गयी। हम किसी नगर में गये तो वहाँ एक पति ने हमसे अपनी पत्नी की शिकायत की कि वह भगवत्-विग्रह का पूजनादि नहीं करती। हमने उनकी पत्नी से पूछा—"तुम्हारे पति कोई बुरी बात तो कहते नहीं, फिर तुम भगवान् की पूजा क्यों नहीं करतीं, जब कि तुम्हारे पति के अनुसार पहले तो तुम इन बातों में बहुत अधिक रुचि लेती थीं।" उसकी पत्नी ने उत्तर दिया—"क्या करूँ? मैं भी विवश हूँ। पूजा करने बैठती हूँ तो बैठी ही रह जाती हूँ। मन एकाग्र होकर निर्विषय स्थिति में चला जाता है। पूजा-कार्य धरे-का-धरा रह जाता है।" उसके इस उत्तर से सारी बात हमारी समझ में आ गयी। हमने उसके पति से कहा कि आप अपनी पत्नी को पूजा के लिए नहीं कहा करें, क्योंकि उसकी स्थिति अब पूजा के योग्य नहीं रह गयी है। जिसका मन शून्य अवस्था को प्राप्त हो जाता हो, वह पूजा क्या कर सकेगा?

उपरोक्त घटना से यही निष्कर्ष निकलता है कि जब तक साधक को बाह्य अवलम्बनों की आवश्यकता की प्रतीति बनी रहती है, तब तक उसे अपनी इच्छानुसार करने देना चाहिए। यथा समय बाह्य साधन अपने आप छूटता जायेगा।

आध्यात्मिक महापुरुष किसी भक्त को किसी साधना से, जिसमें उस का मन लगा हो, एक दम से हटाने का प्रयत्न

नहीं करते, क्योंकि तब अपने साधन के प्रति उसके चित्त में शङ्का पैदा हो जाती है। वह उसे छोड़ बैठता है तथा नयी समझायी गयी बात या तो उसकी समझ में नहीं आती या उसे मान्य नहीं होती। परिणामतः वह उसमें चल ही नहीं पाता। अतः महापुरुष उसे इस प्रकार समझाते हैं—'देखो, जो कुछ भी आप कर रहे हैं, यह सब अति उत्तम है। करते रहो। इससे आगे भी आपको चलना है। इससे आगे और बातें भी हैं जिन पर आपको यथा समय ध्यान देना है।" इस प्रकार साधक के चित्त में नयी बातों का बीज आरोपित कर दिया जाता है जो कि यथा समय अंकुरित हो उठता है।

शाण्डिल्य-भक्ति का तात्विक आधार

तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधि योग हानादित्यवत् ॥९३

ईश्वर तथा जीव एक ही हैं। इस उपाधि के कारण इनमें नानात्व की प्रतीति होती है तथा उपाधि निवृत्त हो जाने पर एकत्व स्पष्ट हो जाता है। जैसे एक ही सूर्य जल से भरे अनेकों घड़ों में अलग-अलग प्रतिबिंबित होने पर अनेकों सूर्य दिखायी देते हैं; किन्तु जल रूपी उपाधि के न रहने पर पुनः एक ही सूर्य रह जाता है।

भाव यह है कि महर्षि शाण्डिल्य जगत् में एक ही तत्व का विस्तार मानते हैं जो विभिन्न उपाधियों के संयोग से नानात्व धारण करता हुआ भासित होता है। अर्थात् नानात्व का कारण तत्व की भिन्नता नहीं, अपितु भिन्न आधारों पर उस एक तत्व का प्रतिबिंबित होना है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अकेला ही होता है। किन्तु जब वह अपने समक्ष चार, छः दर्पण रख लेता है तो उस एक के स्थान पर उसके चार, छः प्रतिबिंब दिखायी

देते हैं। जब सामने से दर्पण हटा दिये जाते हैं तो उसके वे सभी प्रतिबिंब भी लुप्त हो जाते हैं जिससे उस व्यक्ति के एकत्व का भाव पुनः लौट आता है। इसी को प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है।

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा भिन्न-भिन्न रूपों में रचना करते हैं तथा प्रत्येक जीव के शरीर में वे ही प्रतिबिंबित होते हैं, जिन्हें आत्मा कहा जाता है। फिर प्रत्येक बिंब चित्त-पटल पर पुनः प्रतिबिंबित होता है जिसे जीवात्मा कहा जाता है। चित्त-पटल पर प्रतिबिंबित प्रत्येक प्रतिबिंब इन्द्रियों को चैतन्यवत् परिचालित करने लगता है जिसे प्रज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार एक ही परमात्मा विभिन्न उपाधियों से सुशोभित होता हुआ नानात्व धारण करता है और इन उपाधियों के हट जाने पर पुनः एक का एक ही रह जाता है। अतः भक्ति का उपयोग ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना नहीं है, क्योंकि जीव ब्रह्म तो है ही। इसमें उस का ज्ञान प्राप्त करने की तो कोई बात ही नहीं है। उसे तो केवल इन उपाधियों को दूर करना है। उपाधियों के होने पर ही संस्कार, वासनाएँ, विकार इत्यादि विकसित होते हैं। अतः प्रथम इन वासनाओं, विकारों को क्षीण करना तथा फिर उपाधियों के कारणभूत माया के आवरण को उतार फेंकना ही भक्ति का लक्ष्य है।

प्रथगिति चेन्न परेणा सम्बन्धात् प्रकाशानाम् ॥९४

यदि कोई यह शङ्का करे कि "मैं बँधा हुआ हूँ, मैं मुक्त हो जाऊँ"—जीवों के इन विचारों से यही सिद्ध होता है कि जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। परमात्मा स्वयं-प्रकाशित है। जीव मात्र उन्हीं का प्रकाश है। अतः इन दोनों में दृष्टा और दृश्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अतः परमात्मा के चैतन्य प्रकाशरूप सभी जीवों का परमात्मा से ऐक्य है। बद्ध और मुक्त के सब विचार बुद्धिजन्य हैं जो माया से आवृत होने के कारण अज्ञानान्धकार में ऐसी कल्पना करते हैं।

भाव यह है कि जो प्राप्त है, वह कभी अप्राप्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो मुक्त कभी बद्ध और बद्ध कभी मुक्त नहीं हो सकता। बन्धन खोलना एवं मुक्ति प्राप्त करना अज्ञानावृत बुद्धि के भ्रम मात्र हैं। आत्मा तो सदैव मुक्त है। आत्मा और जीवात्मा के बीच आये हुए माया के आवरण के कारण बुद्धि के सोचने का यह ढङ्ग भ्रम मात्र है।

न विकारिणस्तु करण विकारात् ॥ ९५

ज्ञान, सुख-दुःख, क्रोध, मोह इत्यादि गुण अथवा विकार उत्पन्न होने के कारण जीव को विकारी कह सकते हैं। फिर अपवर्त्तनीय एवं अविकारी परमात्मा से उसका ऐक्य किस प्रकार सम्भव हो सकता है? ऐसी शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा विकारी नहीं। सुख-दुःख विकारादि तो चित्त में उत्पन्न होते हैं, आत्मा में नहीं।

भाव यह है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि में कोई रंग नहीं होता, किन्तु उसके सान्निध्य में रक्त, नीला अथवा पीला पुष्प रख देने से उसका प्रतिबिम्ब स्फटिक पर पड़ता है जिससे स्फटिक लाल, नीला इत्यादि दीखता है, पर हो नहीं जाता। इसी प्रकार अन्तःकरण भी आत्मा के अत्यन्त निकट संयोग में होने से चित्त में तरंगित ज्ञान अथवा सुख-दुःख की वृत्तियाँ आत्मा पर प्रतिबिंबित होती हैं जिससे आत्मा उन वृत्तियों के

रूप के अनुरूप भासित तो होता है, पर वैसा हो नहीं जाता। आत्मा तो अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव में स्थित रहता है। जब चित्त में क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्तियाँ उदय होती हैं, तब तो आत्मा विकारी-सा लगता है किन्तु जब चित्त में वृत्तियाँ उदय नहीं होती तब वह अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, जिसे आत्मस्थिति अथवा समाधि की अवस्था कहते हैं। इसे प्राप्त करने के लिए ही चित्त के संस्कारों, विकारों एवं क्लेशों को क्षीण कर चित्त को निरुद्ध करना आवश्यक है ताकि चित्तरूपी सरोवर के नीचे की तली अर्थात् आत्मतत्व स्पष्ट हो सके। इस का स्पष्ट अर्थ यही है कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप विकारी नहीं है। विकारों का उदयास्त चित्त में होता है।

अनन्य भक्त्या तद्बुद्धि लयादत्यन्तम् ॥९६

अनन्य भक्ति से बुद्धि का आत्यन्तिक लय होने के कारण परमात्मा का साक्षात् बोध अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

बुद्धि का अर्थ यहाँ पर चित्त से है। लय का अर्थ चित्त के निरोध से है तथा आत्यन्तिक का अर्थ एक बार समाप्त होने के पश्चात् दोबारा क्रियाशील न होना है। यहाँ आत्यन्तिक लय को इस रूप में लिया जायगा कि चित्त लय अर्थात् समाधि से पूर्व अपनी क्रियाशीलता में जगत् से प्रभावित होता था। समाधि के पश्चात् व्युत्थान होने पर वह कार्यशील तो होगा, किन्तु जगत् से प्रभावित नहीं होगा। यही आत्यन्तिक लय का अर्थ है।

अनन्य भक्ति का अर्थ है जिसमें अन्य के लिए कोई स्थान ही न हो। जब भक्त के चित्त में भगवान् के लिए परम प्रेम हो

जाता है, तब भक्त और भगवान् के बीच से जगत् विलीन हो जाता है। यही अनन्य भक्ति है। इससे चित्त की वृत्तियाँ शान्त होकर चित्त निरुद्ध हो जाता है।

आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात् ॥९७

आह्लादिनी शक्ति के अन्तर्मुखी क्रियाशीला होने पर साधक को पराभक्ति की प्राप्ति होती है तथा उसके पूर्व सञ्चित संस्कार क्षीण हो जाते हैं। तब भी उसे तब तक शरीर धारण किये रहना पड़ता है जब तक कि उसका प्रारब्ध क्षीण न हो जाय।

भाव यह है कि जिस प्रकार हरे पेड़ को काट कर भूमि पर गिरा दिया जाता है, तब भी दो-चार दिन तो वह पेड़ पूर्ववत् हरा-भरा रहता है, जब तक कि उसका पूर्व सञ्चित वायु, प्रकाश, पानी, मिट्टी इत्यादि समाप्त नहीं हो जाते। इसी प्रकार जीव भी अपने में अपना प्रारब्ध निर्माण किये रहता है। जब तक प्रारब्ध पूर्णतया क्षीण नहीं हो जाता, तब तक आत्म-लाभ हो जाने के पश्चात् भी शरीर को उसी प्रकार खींचना पड़ता है जिस प्रकार कटा हुआ पेड़ कुछ काल तक हरा-भरा रहता है। इसी को जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है।

संसृतिरेषाम भक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणा सिद्धे ॥९८

जीव का संसार-बन्धन उसका भक्ति की ओर उन्मुख न होना ही है। भगवान् की माया ही बन्धन में हेतु होती है जो कि शक्ति के प्रसवक्रम में कार्यरत होने पर उदय होती है। भक्त ही उस माया को जीतकर बन्धन-मुक्त हो सकते हैं अर्थात् पराभक्ति को प्रतिप्रसवक्रम में आत्माभिमुखी तथा कार्यशीला बनाते हुए माया का आवरण उतार सकते हैं। यह

कहना कि जीव अज्ञान से ही बन्धन में पड़ा है, उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अज्ञान रूपी कारण ही सिद्ध नहीं होता। किसी भी व्यक्ति को सर्वथा ज्ञानहीन नहीं कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ ज्ञान सभी जीवों को रहता है। अतः बन्धन का कारण अज्ञान है, यह कहना ठीक नहीं है।

अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का विपरीत हो जाना। अर्थात् अज्ञान की अवस्था में भी ज्ञान तो बना ही रहता है, पर वह ज्ञान उलटा होता है। मनुष्य कुछ-का-कुछ देखता तथा समझता है। मनुष्य में एक स्तर ऐसा होता है कि जिस पर वह ज्ञानी होता है। किन्तु उस सीमा-रेखा का नाम माया है। मनुष्य माया तथा गुणों के अन्तर्गत रहते हुए भी अपने अन्तर में ज्ञानी होता है, मुक्त होता है। योगी एवं भक्त होता है। ईश्वर उसके समक्ष प्रत्यक्ष होता है। वही जीव का वास्तविक स्वरूप है। अपने अन्तर में ज्ञानी, किन्तु बाहर अज्ञानी—यही द्वैत है जिसका कारण शक्ति का प्रसव-क्रम है। यदि किसी प्रकार शक्ति प्रतिप्रसव-क्रम में आकर माया के इस आवरण को उतार दे तथा द्वैत-अद्वैत की सीमा-रेखा समाप्त हो जाय तो मनुष्य, जिसका वास्तविक स्वरूप ज्ञान का ही है, इस कथित अज्ञान के बन्धन से मुक्त हो जाय। शक्ति का प्रतिप्रसव-क्रम में आना तथा उत्तरोत्तर उच्च स्तरों पर कार्यरत होना ही पराभक्ति का स्वरूप है।

इस स्थिति का वर्णन उर्दू के एक कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है जिसका उल्लेख विश्वप्रसिद्ध स्वामी रामतीर्थ प्रायः किया करते थे—

मैं न बन्दा, न खुदा था, मुझे मालूम न था।
दोनों इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था॥

शक्ले हैरत हुई आइनाए दिल से पैदा।
मानिए शाने शफा था, मुझे मालूम न था ।।

आप ही आप हूँ, याँ तालिबों मतलूब है कौन।
मैं जो आशिक हूँ कहा था, मुझे मालूम न था ।।

वजह मालूम हुई तुझसे न मिलने की सनम।
मैं ही खुद परदा बना था, मुझे मालूम न था ।।

बाद मुद्दत जो हुआ वसल, खुला राजे वतन।
वासले हक में सदा था, मुझे मालूम न था ।।

–"मैं न भक्त और न ही भगवान् था, मैं तो इससे अनभिज्ञ था। दोनों ही संवेदन शीलताओं से भिन्न था, यह मैं नहीं जानता था। मैं विस्मित था। जो भी मेरे हृदय के आइने से प्रकट होता था, सच मानिए, वह यथार्थ नहीं था—यह भी मुझे मालूम नहीं था। वह 'आप' मैं ही हूँ। कौन प्रेमी है तथा कौन प्रेमास्पद ? "मैं तो उसका आशिक हूँ, प्रेमी हूँ"—ऐसा मैंने कहा था, यह भी मुझे याद नहीं। हे प्रियतम ! जब तुझ से न मिलने का कारण जाना तो वह यह था कि मैं तो खुद ही आवरण था, जो मुझे मालूम ही न था। बहुत समय पश्चात् जो मिलन हुआ तो यह रहस्य खुला कि मैं तो उस मिलन का सदा ही अधिकारी था और यह भी मुझे मालूम नहीं था।"

भाव यह है कि मैं और केवल मैं ही सर्वव्यापी हूँ। जगत् के दृश्य, परिस्थितियाँ, सूर्य, चन्द्र, पशु, पक्षी इत्यादि सभी मेरा ही रूप हैं। न कोई यहाँ भक्त है और न ही भगवान् है। न कोई प्रेमी और न ही प्रियतम है। न कोई चाहने वाला है और न कोई किसी से चाहा जाता है। मैंने जो यह कहा था कि मैं भगवान् का प्रेमी हूँ, यह मेरा अज्ञान था।

मुझे अपने प्रियतम, जो कि वास्तव में मैं स्वयं ही हूँ, उसके न मिलने के कारण का पता अब चला है। मैं स्वयं ही एक ही तत्व के दो रूपों के बीच आवरण बना हुआ था अर्थात् माया का आवरण भी मैं स्वयं ही था। जब इस स्वकल्पित आवरण को उतार फेंका तो मेरे अपने दोनों ही स्वरूप; जो पहले भी एक ही थे; द्वैत की कल्पना हट जाने से अब फिर से एक रूप हो गये, किन्तु उस समय मुझे यह ज्ञात ही नहीं था।

कालांतर में जब आत्मा और परमात्मा का मिलन हुआ तब अपने घर का वास्तविक रहस्य खुल गया। जगत् के घर कभी भी अपने घर नहीं हुए। जगत् में अपने घरों, आश्रय-स्थलों (शरीरों) की कल्पना कर उनमें आसक्त था, सुखी-दुःखी था, तब भी वास्तव में मैं अपने घर में ही प्रतिष्ठित था और अपने घर में होते हुए भी काल्पनिक रूप से बाहर भटक रहा था, किन्तु उस समय मुझे यह ज्ञात नहीं था।

देखा आपने जीव की वास्तविक स्थिति को! वह शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप होकर भी कैसे जीवभाव में आया है! जगत् को सत्य मानता है, सुखी-दुःखी होता है। किन्तु ये सब उसके स्वाभाविक गुण नहीं हैं। जिस प्रकार जलाना अग्नि का धर्म होता है, उसी प्रकार आत्मा के स्वाभाविक धर्म भी नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त ही हैं।

त्रीण्येषां नेत्राणि शब्द लिङ्गाक्ष भेदाद्रुद्रवत् ॥९९

जगत् की यथार्थता, ईश्वर और ब्रह्म तथा जीव की आन्तर कार्यशीलता को समझने के लिए भगवान् शङ्कर की ही भाँति तीन नेत्र अथवा साधन हैं और वे हैं, १—शब्द अर्थात् शास्त्र

तथा ऋषिप्रणीत आप्तवाक्य, २--लिङ्ग अर्थात् अनुमान, और, ३—प्रत्यक्ष।

शब्द—सब प्रकार का ज्ञान मनुष्य के अन्दर ही होता है जिसका बाह्य विषयों के आधार पर प्रकटीकरण उसका अशुद्ध स्वरूप है। जिन साधकों की शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होती तथा प्रतिप्रसव-क्रम में ऊपर चढ़ती है, तब वह जितना बाह्य जगत् एवं विषयों का आधार छोड़ती चली जाती है, उतना ही उसका ज्ञान शुद्ध होता चला जाता है। तब साधक अपने अन्तर में विद्यमान ज्ञान को किसी-न-किसी रूप में अन्तः-श्रवण करता है। इसे ही श्रुति कहा गया है। इसी के आधार पर वेदों की ऋचाएँ प्रकट हुईं। इसी के आधार पर भक्तों एवं सन्तों की दिव्य वाणियाँ प्रकट हुईं जो कि आगे चलकर साधकों के लिए प्रमाण बनीं। अर्थात् जिन्होंने ईश्वर तथा उसके मार्ग की अनुभूतियाँ प्राप्त कीं तथा उसकी वाणी को अन्तर में श्रवण किया, उनकी वे वाणियाँ ही आज शास्त्र के रूप में हमारे समक्ष सुरक्षित हैं। साधना के क्षेत्र में इसी को शब्द कहा जाता है। ये ही साधकों के प्रथम नेत्र का काम करती हैं।

लिङ्ग (चिह्न)—किसी वस्तु, पदार्थ, प्राणी, परिस्थितियों आदि को देखकर किसी अन्य वस्तु अथवा पदार्थ का अनुमान लगा लेना लिङ्ग-प्रमाण कहलाता है,--जिस प्रकार धूँए को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है। सभी अनुमान-प्रमाण इस मायावी जगत् के अन्तर्गत ही आते हैं। जब तक उदाहरण अथवा अनुमान की आवश्यकता है, तब तक जगत् की विद्यमानता है। जब साधक के समक्ष जगत् का अस्तित्व विलीन हो जाता है, तब अनुमान आदि की आवश्यकता भी

समाप्त हो जाती है। अनुमान-प्रमाण की समाप्ति के लिए अनुमान स्वयं एक नेत्र का कार्य करता है जो शक्ति के प्रति-प्रसव-क्रम में ऊपर चढ़ने पर खुल जाता है तथा माया रूपी सीमा पार कर जाने पर पुनः बन्द हो जाता है। शक्ति जागृत होने पर उसके द्वारा सम्पादित घटनाओं पर अनुमान लगाने से साधक अपनी आन्तरिक स्थिति के सम्बन्ध में समझ सकता है; किन्तु जब शक्ति माया रूपी आवरण को बेध कर बाहर निकल जाती है, तब क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं एवं दृश्य जगत्, शरीर अथवा चित्त सब विलीन हो जाने से अनुमान की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि तब साधक आत्मा में स्थित हो जाता है।

प्रत्यक्ष - जो बात हाथ पर रक्खे आँवले की तरह प्रत्यक्ष होती है, उसके लिए शब्द अथवा अनुमान प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं होती। ये जगत् तथा शरीर मिथ्या होते हुए भी प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हैं। जब तक जगत् में सत्यत्व की प्रतीति होती रहती है, तब तक प्रत्यक्ष प्रमाण इसी जगत् में से ग्रहण करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। जैसे-जैसे चित्त शुद्ध होता जाता है, वैसे-ही-वैसे प्रत्यक्ष प्रमाण का भी भाव बदलता जाता है। इस जगत् का आधार चैतन्य प्रत्यक्ष अनुभव में आना चाहिए। तब वास्तविक तीसरा नेत्र खुलता है।

आविस्तिरोभावा विकाराः स्युः क्रियाफल संयोगात् ॥१००

उत्पत्ति एवं विनाश वास्तविक नहीं हैं, केवल आविर्भाव, तिरोभाव होता है। गीता में भगवान् कहते हैं—

'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।'

जिसका भाव है, उसका कभी अभाव नहीं हो सकता तथा

जिसका अभाव है उसका कभी भाव नहीं हो सकता। इस सूत्र के अनुसार वस्तु तो सदैव रहती है, केवल दृश्य अथवा अदृश्य रूप में अपनी स्थिति परिवर्त्तित करती है। जिस प्रकार मिट्टी के लौंदे में घोड़ा, बन्दर आदि सब आकार विद्यमान रहते हैं, किन्तु अनागत अथवा अप्रकट होते हैं। जब घोड़ा बनकर तैयार हो जाता है तो वह वर्त्तमान अथवा दृश्य अवस्था में आ जाता है। इस घोड़े को तोड़कर पुनः मिट्टी के लौंदे में मिला दिया जावे तो वह अतीत अर्थात् अदृश्य अवस्था में चला जाता है। यदि घोड़े अथवा बन्दर के आकार मिट्टी के लौंदे में अदृश्य विद्यमान नहीं होते तो प्रकट अवस्था में आ ही नहीं सकते थे। अतः उत्पत्ति का अर्थ है किसी वस्तु का अनागत अवस्था से वर्तमान में आना। इसी प्रकार विनाश का अर्थ है किसी वस्तु विशेष का वर्त्तमान से अनागत अवस्था में वापस चले जाना।

अब किसी वस्तु के स्थान पर समग्र सृष्टि को लेते हैं तो उत्पत्ति काल में सृष्टि अप्रकट से प्रकट में, अनागत से वर्तमान में अर्थात् असत् से सत् में आ जाती है। प्रलयकाल में इसके विपरीत दृश्य अर्थात् वर्त्तमान से अदृश्य अथवा अतीत में चली जाती है। इस प्रकार दृश्य अवस्था में आने को आविर्भाव अथवा उत्पत्ति तथा अदृश्य अवस्था में तिरोभाव अथवा विनाश कहा जाता है। इसी परिपेक्ष्य में यदि जीव का उदाहरण लिया जाय तो जन्म और मरण आविर्भाव तथा तिरोभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। अध्यात्म में लम्बी आयु को प्राप्त करना कोई आकर्षण नहीं है। सूक्ष्म शरीर संसार में आता जाता रहता है। यह एक लम्बी यात्रा के समान है। अथवा जिस प्रकार कोई बहुरूपिया भिन्न-भिन्न मुखौटे लगा कर रङ्गमञ्च पर आता है, इसी प्रकार जीव भी कभी मनुष्य,

कभी पशु-पक्षी इत्यादि की विभिन्न योनियों के मुखौटे लगा कर बार-बार जगत् में अवतरित अथवा प्रकट होता है। लम्बी आयु भोगने की इच्छा का अर्थ अपने शरीर के प्रति आसक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिन-जिन योनियों में शरीर धारण करना जीव के प्रारब्ध में है; उन योनियों को भोग कर प्रारब्ध को क्षीण कर देना तथा अनासक्त कर्म के अभ्यास से और संस्कार सञ्चित नहीं होने देना, यही भक्ति का वास्तविक स्वरूप है। इसी में जीव का कल्याण है। इसी पर चलते हुए जीव आविर्भाव, तिरोभाव के भौतिक एवं शरीरिक घटना-चक्र से छुटकारा पा सकता है।

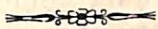

भक्ति में नव रस

जब तक साधक कर्त्तापन की भावना से युक्त होकर भजन करता रहता है, तब तक अपने चित्त में विभिन्न प्रकार के भावों को उदय करने के लिए विभिन्न प्रकार की उपासनाओं—जप, कविता-पाठ, स्तोत्रपाठ, भजन, सङ्गीत इत्यादि का अवलम्बन लेता है। अपने हृदय में प्रेमभाव उदय करने के लिए वह उसी प्रकार के भजन, स्तोत्र इत्यादि का गान करता है। इसी प्रकार वीरभाव उत्पन्न करने के लिए वीरता एवं देशप्रेम की कथाएँ सुनता एवं पढ़ता है अथवा व्यायामशाला में जाकर व्यायाम करता है। इसी प्रकार विभिन्न भावों के आधार पर काव्य के विभिन्न स्वरूपों, जैसे—शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य इत्यादि का विकास हुआ एवं उनका गान करने के लिए विभिन्न राग-रागिनियाँ प्रकट की गईं। इन बहिर्मुखी कर्तृत्वाभिमानयुक्त काव्य, सङ्गीत आदि क्रियाकलापों से भी, अस्थायी रूप में ही सही, लाभ ही हुआ। इन बाह्य अवलम्बनों पर लोगों का चित्त शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है क्योंकि एक तो उन का मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं और उन में कार्य कर रही वह शक्ति भी बहिर्मुखी ही प्रवाहित है। किन्तु भक्ति के इस प्रयत्नसाध्य स्तर को परम प्रेम रूपा भक्ति अथवा परम भक्ति न कह कर गौणी अथवा सामान्य भक्ति ही कहा जाता है। भक्ति के इस स्तर को वास्तव में तो भक्ति कहना ही अनुपयुक्त है। भक्ति का

अभ्यास चित्तशुद्धि के निमित्त किया जाता है। किन्तु इस स्तर पर चित्तशुद्धि के स्थान पर इसके विपरीत चित्त मलीन एवं अशुद्ध होता है। मन बाह्य प्रभाव से युक्त होकर जिस भी विषय, दृश्य, भाव, परिस्थिति, प्राणी इत्यादि का संग करता है, उसी के संस्कार चित्त में संचित हो जाते हैं, जब कि भक्ति से संस्कार क्षीण होने चाहिए। फिर भी कर्तृत्वाभिमान-युक्त गौणी भक्ति को एक दम ही अमान्य नहीं करते हुए उसे परम प्रेमारूपा भक्ति प्राप्त करने का साधन बतलाया जाता है।

किन्तु जब साधक भावनात्मक स्तर पर भगवान् के प्रति समर्पित होकर साधना करता है, अपने अन्तर में कार्य कर रही शक्ति को भगवान् की शक्ति मानता है, अपने द्वारा संपादित कर्मों एवं साधनाओं को भगवान् की सेवा मानता है; तब धीरे-धीरे साधक की शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होने लगती है तथा तब परमप्रेमरूपा भक्ति प्राप्त करके साधक की कर्तृत्वा-भिमानयुक्त साधना समाप्त हो जाती है। परिणामतः चित्त शुद्धि का क्रम अर्थात् संचित संस्कारों का क्षय होना आरम्भ हो जाता है एवं विभिन्न प्रकार की भावनाएँ चित्त के अन्दर से ही प्रस्फुटित होने लगती हैं।

वर्तमान जन्म साधक का प्रथम जन्म तो है नहीं। जीव बार-बार जगत् में आता एवं विभिन्न अभिनय करता है। वह कई बार मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि का रूप धारण करता है। मनुष्य-जन्म में भी कई बार राजा, चोर, डाकू, भिखारी, संन्यासी इत्यादि बना। कुछ नहीं होने पर भी मन में कुछ होने की जिज्ञासा उठी। परिणामतः उन सबके संस्कार उसके चित्त में संचित होने लगे। विभिन्न भावों, जैसे—प्रेम, मोह, वीर, हास्य का समूह चित्त में एकत्रित होता चला गया। वर्तमान

जन्म में जब मनुष्य को आध्यात्मिकता के प्रति आकर्षण होता है तो वह विभिन्न प्रकार की कर्तृत्वाभिमानयुक्त साधनाएँ, उपासनाएँ आदि का अभ्यास करता है। अपने भाव के अनुरूप कविता करता एवं भजन गाता है; किन्तु जब आह्लादिनी अथवा कुंडलिनी शक्ति साधक के अन्तर में जागृत होकर क्रियाशीला हो जाती है, तब चित्त में संचित संस्कारों के आधार पर विभिन्न भावनाएँ अंतर से प्रकट होने लगती हैं। इसी को अंतर से भक्ति का प्रवाह प्रस्फुटित होना कहा गया है। तब साधक को प्रेम, हास्य, वीर, रौद्र अथवा करुणा का भाव उत्पन्न करने के लिए किसी कृत्रिम साधन का अवलम्बन लेने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। कभी करुणा से युक्त होकर स्वत: अश्रुपात होने लगता है। विभिन्न राग-रागिनियाँ बिना प्रयत्न के अन्तर से प्रकट होने लगती हैं जिन्हें साधक अपने शरीर एवं चित्त के आधार पर घटित होता हुआ अनुभव करता है। इस प्रकार इन भावों के दो प्रकार हो जाते हैं :—

(१) कर्त्तापन की भावना से युक्त होकर कृत्रिम साधनों का अवम्लबन लेकर चित्त में इन भावों को उत्पन्न करने का प्रयत्न करना जिससे उस प्रयत्न, साधना, उपासना, कविता, राग इत्यादि के संस्कार चित्त में संचित हो जाते हैं। इसे गौणी भक्ति कहा जाता है। स्मरण, कीर्तन, कथा-श्रवण, नमस्कार आदि साधन आर्त-भक्ति में प्रायश्चित्त रूप से माने गये हैं—

स्मृति कीर्त्यो: कथादेश्चार्तो प्रायश्यित्त भावात् ।।

—शा.भ.सू. ७४

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तप: कर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णान स्मरणं परम् ।।

—दि० पु० २, ६,३७

अर्थात् परा भक्ति की प्राप्ति हेतु भक्ति-साधन का अनुष्ठान किया जाता है।

(२) आह्लादिनी शक्ति के क्रियाशीला होने पर शक्ति के चित्त के आधार पर कार्य करने से संचित संस्कारों के अनुसार क्रियाएँ स्वतः ही होती हैं। अतः इस प्रकार क्रियाओं द्वारा ये संचित संस्कार बाह्य रूप में प्रकट होकर क्षीण होते रहने का क्रम आरम्भ हो जाता है। ये संचित संस्कार विचारों, कविता रचने अथवा राग-रागिनियों इत्यादि के प्रस्फुटन अथवा अन्य किसी प्रकार के पूर्व संचित संस्कारों के अनुसार क्षीण होने लगते हैं। आह्लादिनी शक्ति की इस क्रियात्मकता को परा भक्ति अथवा परमप्रेमरूपा भक्ति कहा जाता है।

हवन अथवा यज्ञ में बाह्य अग्नि प्रज्ज्वलित कर उस में यज्ञ सामग्री की आहुतियाँ दी जाती हैं, किन्तु आन्तर योगिक अथवा भक्ति-परायण यज्ञ में आंतरिक आध्यात्मिक अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है जिसे कुंडलिनी अथवा आह्लादिनी शक्ति की जागृति कहा जाता है। उस प्रज्ज्वलित अग्नि में चित्त में संचित संस्कारों की आहुतियाँ देना आंतरिक हवन कहा जाता है।

ये नव भाव अथवा नव रस निम्न श्लोकानुसार इस प्रकार कहे गए हैं :—

रौद्रोद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा।
भयानकश्च वीभत्सः शान्तः सप्रेम भक्तिकः॥

रौद्र—क्रोधपूर्वक तीक्ष्ण भाव, अद्भुत—विस्मयजनित भाव, शृङ्गार—रतिजनक भाव, हास्य—प्रसन्नचित्त होकर हँसने के भाव, वीर—ओजपूर्ण भाव, दया—करुणा के भाव,

भयानक—भयसूचक अथवा भय-उत्पादक भाव, वीभत्स—घृणित भाव, शान्त—सर्व विकार रहित स्थिति, सप्रेम भक्ति—ईश्वर के प्रति समर्पण भावयुक्त चित्त की माधुर्य-मय स्थिति।

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणभारुत जैह्व्यशैश्न्या—
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो—
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥

कई इस प्रकार के लोग होते हैं जो क्षुधा-पिपासा, शीतोष्ण एवं आँधी-पानी के कष्टों को तथा रसनेंद्रिय और जननेंद्रिय के वेगों को, जो विशाल समुद्र के तुल्य हैं, सहन कर जाते हैं, पार कर जाते हैं। किन्तु ऐसे लोग भी क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं जो गाय के खुर से बने गड्ढे के समान है तथा जिससे कोई लाभ नहीं है। इस के विपरीत वह आत्मनाशक है। ऐसे लोग इस प्रकार अपनी कठिन तपस्या को खो बैठते हैं।

रौद्र—

आह्लादिनी शक्ति जागृत होने पर साधक के चित्त में जब क्रोध के संस्कार उभर कर चित्तस्थिति को आंदोलित करते हैं, तब शक्ति उन संस्कारों को क्रोधमय क्रियाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करती है। तब साधक अकारण ही क्रोधयुक्त हो उठता है। उसकी भौंहें तन जाती हैं। नेत्र ऊपर की ओर चढ़े हुए रक्त वर्ण युक्त हो जाते हैं। साधक क्रोध में भर कर अपशब्द बकने लगता है। जिस पुरानी घटना के कारण उसे क्रोध उत्पन्न होता है, वह घटना साधक के समक्ष मूर्तिमान हो उठती है एवं वह उसी पूर्व घटित मनःस्थिति की अवस्था में लौट जाता है।

कई बार साधक का चित्त अपने विकारों से ग्रसित हो जाता है। तब उसके चित्त में अपने विकारों के प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। यह क्रोध तभी जागृत होता है जब साधक इन विकारों से अपना पीछा छुड़ाना चाहता है तथा विचार उसे घेरे रहते हैं। तब साधक क्रोध में भर कर अपने ऊपर ही क्रुद्ध हो उठता है। मुँह पर चपत लगाता है। पीठ पर मुक्के मारता है तथा अन्तर में विकारों के प्रति अपशब्द कहता है अर्थात् मनुष्य के चित्त में क्रोध का भाव तो उदय होता है, किन्तु साधक उस क्रोध को जगत् की ओर से मोड़कर अंतर्मुखी क्रियाशील बनाता है और इस प्रकार क्रोध को चित्त के विकारों के प्रति ही मोड़ देता है। ऐसा स्वतःसिद्ध क्रोध आध्यात्मिक उत्थान का कारण बनता है अर्थात् वासनाओं, विकारों को छुड़ाने में सहायक होता है। जैसे-जैसे चित्त में पुराने विकार क्षीण होते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे चित्त में संचित क्रोध के भाव भी क्षीण एवं शान्त होते जाते हैं।

उन्नत साधकों को रौद्रभाव की क्रियाएँ, चित्त में संचित संस्कारों अथवा विकारों के आधार पर न होकर महाकाली, भैरव आदि चितिशक्ति के शुद्ध भावों के उदय के रूप में होती हैं। तब साधक को उसी प्रकार की मुद्राएँ, कंप, रोमांच इत्यादि घटित होने लगते हैं।

अद्भुत—

अंतर में जागृत आह्लादिनी शक्ति के द्वारा पूर्व संचित संस्कार कुरेदे जाने पर जब विस्मयकारी संस्कार उभर कर चित्त में सामने आ जाते हैं, तब साधक के हाव-भाव, क्रियाएँ एवं मुद्राएँ भी विस्मयकारी हो जाती हैं। जैसे, साधक के चित्त में विष्णु भगवान् अथवा कृष्ण भगवान् इत्यादि के संस्कार

उदय होते हैं तथा शक्ति तत्संबंधी देवताओं का रूप धारण कर उसके चित्त में प्रकट होती है। उसका सौन्दर्य देखकर साधक आश्चर्यचकित हो जाता है। उसके चित्त में उदित इस भाव अथवा रस का प्रभाव उसके शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में परिलक्षित होता है। साधक भाव-विभोर हो जाता है। माधुर्य भाव से उसे अश्रुपात होने लगता है, उसके मुख से ऐसे शब्द निकल पड़ते हैं—"वाह ! कितना सौन्दर्य है।" इससे पूर्व उसने जगत् में इतना सौन्दर्य कभी भी नहीं देखा होता।

इसी प्रकार अनेकों विस्मयकारी विषयों, घटनाओं एवं परिस्थितियों के संचित संस्कार चित्त में उभरते रहते हैं तथा प्राचीन अनुभूत घटनाओं की स्मृति चित्त में तरंगित होती रहती है। इस सब स्मृतिक्रम में साधक का कर्त्तापन का भाव नहीं होता। वह तो दृष्टा-भाव से केवल चित्त में आगत स्मृतिक्रम का अवलोकन करता रहता है। विभिन्न प्रकार के चित्त में उदित ये भाव भक्ति रस का आस्वादन कराते हैं। जैसे-जैसे साधक के चित्त में ये भाव उठते चले जाते हैं, वैसे-वैसे उसके चित्त में जागृत शक्ति के प्रति प्रेम तथा समर्पण का भाव प्रबल से प्रबलतम होता चला जाता है।

शृङ्गार—

इस भाव के अन्य भावों की तरह सांसारिक एवं आध्यात्मिक दो रूप होते हैं। सांसारिक भाव तो सर्वविदित है ही; अतः उसके संबंध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। इतना ही लिखना पर्याप्त है कि आह्लादिनी शक्ति अथवा कुंडलिनी शक्ति के चित्त में क्रियाशीला होने पर शृङ्गार के भाव चित्त में प्रवाहित होते हैं, तब चित्त में सांसारिक

रति का भाव उदय होता है। सामान्यतया देखने पर चित्त में ऐसे भावों के उदय होने को साधक अपनी साधना का ह्रास मानता है। किन्तु ये अशुभ, अशुद्ध एवं घृणित दीखने वाले रस, भाव, विचार एवं क्रियाएँ वास्तव में शुभ ही होते हैं। साधक अपनी ओर से किसी प्रकार की प्रयत्नपूर्वक चेष्टा नहीं करता; अपितु शक्ति की क्रियाओं में संस्कारों के आधार पर संस्कारों को क्षीण करने हेतु ही ये क्रियाएँ घटित होती हैं। ये क्रियाएँ परिणामतः मंगलकारी ही होती हैं। जैसे-जैसे साधक के संचित संस्कार क्षय होकर चित्त शुद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे साधक में प्रभु-मिलन की लालसा तीव्र से तीव्रतम होती चली जाती है।

यह सारा जगत् प्रकृति के संघात से निर्मित है जिसमें आत्मा अथवा पुरुष निवास करता है, किन्तु अपने चित्त की अशुद्धि के कारण जीवभाव अथवा पुरुष में वासना, अहङ्कार अथवा माया का आवरण आ जाता है। वास्तविक आध्यात्मिक शृङ्गारिक रति तभी होती है जब पुरुष और प्रकृति का मिलन घटित होता है। चित्त में इस मिलन के लिए तड़प उठना, आध्यात्मिक शृङ्गार का स्वरूप होता है।

जिस प्रकार चित्त में सांसारिक शृङ्गार के संस्कार विद्यमान होते हैं तथा शक्ति की क्रियाएँ उभर कर चित्त में भाव उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रभुमिलन अथवा प्रभु के लिए तड़प के पूर्व संचित संस्कार, शक्ति के द्वारा उदित होकर, चित्त में शुद्ध क्रिया के रूप में घटित होते हैं। शक्ति की आन्तरिक एवं स्वाभाविक क्रियाओं के अतिरिक्त साधक को भविष्य के लिए भी इस प्रकार के संस्कार संचित करना उसके कल्याण के निमित्त किसी सीमा तक आवश्यक होता है। जीव गौणी भक्ति का अवलम्बन लेकर जितना अधिक पूजा-पाठ,

जप, कीर्त्तन इत्यादि के माध्यम से जितने संस्कार संचय करता जाता है, उतना ही वे संचित संस्कार शक्ति की क्रियाओं के रूप में साधक के चित्त में प्रभुमिलन की स्वाभाविक अभिलाषा को प्रबल करते जाते हैं। एक समय ऐसा आता है जब कि साधक का चित्त निरन्तर ईश्वर-प्राप्ति के लिए तड़पता रहता है। उसकी स्थिति नारद भक्ति सूत्र वर्णित निम्न सूत्रानुसार निर्मित हो जाती है—

'यत्प्राप्य न किंचित वांछति, न द्वेष्टि,
न शोचति, न रमते नोत्साही भवति।'

अर्थात् उस परमप्रेमरूपा भक्ति को प्राप्त करके साधक को जगत्, विषयों, सुख-सुविधाओं एवं भोग-वासनाओं में किसी प्रकार का कोई आकर्षण शेष नहीं रहता। अतः इन सब भोगों की न तो वह इच्छा करता है, न किसी से द्वेष करता है, न शोक करता है, न विषयों में रमण करता है। उसे जगत् के विषयों को भोगने की इच्छा ही नहीं रहती। ऐसा साधक जगत् से अपने को हटा, उठा लेता है। उसके चित्त में एक ही इच्छा, एक ही जिज्ञासा तथा लगन तथा एक ही विषय को प्राप्त करने के प्रति तड़प एवं उत्साह होता है और वह विषय होता है—जगत् के सभी विषयों से अतीत, नित्य सत्य एवं चेतन परमात्मा को प्राप्त करने की जिज्ञासा। चित्त की इसी स्थिति को भक्ति-मार्ग में परमप्रेमरूपा भक्ति अथवा वेदान्त की भाषा में मुमुक्षुत्व कहा जाता है। यह आध्यात्मिक शृङ्गार का भाव चित्त में तब तक उदय नहीं होता जब तक जगत् की ओर से चित्त पूर्णतया वैराग्यवान नहीं हो जाता। चित्त का यह वैराग्य, चित्त के पूर्व संचित संस्कार पूर्णतया क्षीण हुए बिना सम्भव नहीं होता तथा चित्त के संचित संस्कार तब तक क्षय

नहीं होते, जब तक कि ईश्वरीय आह्लादिनी शक्ति अन्तर्मुखी जागृत होकर कियाशीला नहीं हो जाती। तब जीव एकनिष्ठ हो कर जगत् के विषयों से पूर्णतया उपराम हो कर ईश्वराभि ुख हो जाता है। इसी स्थिति का वर्णन करते हुए तथा प्रभु के प्रेम-रंग में मस्त होकर मीराबाई इस प्रकार कह उठीं—

श्री गिरिधर आगे नाचूँगी ।।
नाच नाच पिव रसिक रिझाऊँ, प्रेमी जनको जाचूँगी ।
प्रेम प्रीति का बांधि घूँघरू, सुरत की कछनी काछूँगी ।।
लोक लाज कुल की मरजादा, या में एक न राखूँगी ।
पिव के पलंगा जा पौढूँगी, मीरा हरि रंग राचूँगी ।।

मीरा का प्रेम, शृङ्गार एवं नृत्य सांसारिक नहीं, अपितु शुद्ध आध्यात्मिक था। मीरा प्रभु-प्रेम में दीवानी हो प्रभु के समक्ष नृत्य करती थीं। यह अवस्था उनका अभिनय नहीं, वरन् स्वाभाविक स्वरूप था। चित्त की इसी स्थिति से प्रभावित होकर वे गा उठतीं कि मैं केवल गिरिधर के आगे ही नृत्य करूँगी और इतना नाचूँगी कि मेरे प्रभु प्रियतम मुझ पर रीझ जायेंगे तथा प्रेमी भक्तों को जाँच कर उनका ही संग करूँगी, ताकि में प्रभु-प्रेम के वातावरण में अपना सारा जीवन व्यतीत कर सकूँ। मीरा का प्रेम अलौकिक, वासना रहित प्रेम था। उनका नृत्य शुद्ध आध्यात्मिकता का द्योतक था। वे सांसारिक घुँघरू बाँध कर नहीं, अपितु भगवत प्रेम के घुँघरू बाँध कर नृत्य करती थीं। अर्थात् उनके हृदय में भगवान् का प्रेम वास करता था एवं उनकी वृत्ति भगवान् की ओर एकाग्र रहती थी।

संकोच, आध्यात्मिक प्रेम एवं अलौकिक शृङ्गार में महान् विघ्न है। निर्भय, निर्द्वन्द एवं निःसंकोच होकर जो प्रेमी भक्त अपनी आन्तरिक क्रियाओं को विकासशील होने का पूर्णरूपेण

अवसर प्रदान करता है एवं क्रियाओं के विकास में लोक-लाज, अपने कुल की मर्यादा का संकोच छोड़ कर अध्यात्म-मार्ग पर अग्रसर होता है, वहीं आध्यात्मिकता के उच्च शिखरों पर रमण करता है। 'पिव के पलंगा जा पौढूँगी' अर्थात् मीराबाई अपने प्रियतम के पलंग पर जा पौढ़ेगी। यहाँ पर 'प्रियतम' संसारी प्रियतम नहीं है और ना ही उसका पलंग इस लोक का पलंग। भगवान् कृष्ण जो कि निराकार, अव्यक्त ब्रह्म के साकार स्वरूप हैं एवं साकार होते हुए भी अपने निराकार, अव्यक्त स्वरूप से च्युत नहीं होते तथा जिनका अंश जीव के अन्दर स्थित आत्मतत्व है, मीरा के प्रियतम थे। जब प्रेमी भक्त उस अव्यक्त, निराकार अवस्था को प्राप्त होता है तो वह अवस्था ही प्रेमी भक्त के प्रियतम का पलंग होता है। अर्थात् जब साधक अपने चित्त की वासनाओं एवं वृत्तियों को पूर्णतया निरुद्ध कर अपनी चेतन शक्ति को चित्त से ऊपर उठा देता है एवं चित्तातीत अवस्था में जा स्थित होता है, उसी को समाधि की अवस्था कहा जाता है जिसे मीराबाई ने उपरोक्त पद में प्रियतम का पलंग कहा है। इसके लिए इस पद के अन्त में मीरा साधनरूप अपने चित्त को हरि के प्रेम-रंग में रंग देना बतलाती है। यही आध्यात्मिकता का शृङ्गार है— 'मीरा हरि रंग राचूँगी।'

सन्तों की वाणी में स्थान-स्थान पर अपने प्रभु प्रियतम को प्राप्त करने के लिए अपना शृङ्गार करने की बात कही गयी है। वह शृङ्गार सामान्य सांसारिक शृङ्गार नहीं होता, अपितु चित्त के विकारों को दूर कर हृदय में प्रभु-प्रेम की स्थापना करना ही सन्तों, भक्तों का प्रभु-मिलन-निमित्त आध्यात्मिक शृङ्गार होता है।

एक बार प्रियतम के दर्शन उपलब्ध हो जाने के उपरान्त फिर कभी भी प्रियतम नेत्रों से ओझल नहीं होते। अर्थात् जब शक्ति अंतर में जागृत हो जाती है तो उसकी क्रियाशीलता का अनुभव प्रतिक्षण होता रहता है। सामान्य मनुष्य इस निरन्तर अनुभव को नहीं जानते। केवल साधना के समय ही शक्ति की क्रिया को अनुभव करते हैं तथा तत्पश्चात् जगत् में आसक्त होने के कारण जगत् के रंग में रंग जाते हैं; किन्तु मीराबाई की स्थिति सामान्य संसारी जीवों से एक दम भिन्न थी जैसा कि प्रभु-मिलन के लिए उसके हृदय की तड़प से ही स्पष्ट है।

शृङ्गार के दो प्रकार कहे जाते हैं—एक प्रभु-मिलन के लिए तड़प अर्थात् अपने शरीर एवं चित्त में ईश्वरीय शक्ति आह्लादिनी की जागृति एवं क्रियाशीलता की लालसा अथवा शक्ति-जागृति के पश्चात् भी शक्ति की और क्रीड़ाएँ अनुभव करने की हृदय में जिज्ञासा तथा दूसरा अपने चित्त में प्रभु प्रियतम के दर्शन प्राप्त कर उसके आनन्द में भाव-विभोर हो उठना अर्थात् शक्ति की क्रियाओं के आनन्द को अपने चित्त में अनुभव करना। प्रथम विरह एवं दूसरा मिलन या दर्शनानन्द कहा जाता है। अब तनिक मीराबाई का विरह भी देखिये—

गोविन्द कबहुँ मिलै पिया मेरा ॥
चरण कँवल को हँस-हँस देखूँ राखूँ नैना नेरा।
निरखण कूँ मोहे चाव घणेरो, कब देखूँ मुख तेरा ॥
व्याकुल प्राण धरत नहिं धीरज, मिल तूँ मीत सबेरा।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, ताप तपन बहुतेरा ॥

मीरा की विरह, तड़प एक भक्त के हृदय का मर्म-स्पर्शी चित्रण है। गहरी श्वास भरते हुए मीरा कहती है—"पता नहीं कब मेरे प्रियतम मुझे मिलेंगे ? वह समय कब आयेगा

जब मैं अपने प्रियतम के चरणों को हँसते-हँसते निहारूँगी तथा उन्हें प्रतिक्षण अपने नयनों के समक्ष ही रखूँगी। मैं उनके दर्शन हेतु प्रतिक्षण प्रतीक्षारत हूँ। हृदय में आता है कि हर समय उन का मुख निहारती रहूँ। अब तो मेरे प्राण व्याकुल हुए जा रहे हैं। धीरज छूट रहा है। अरे मेरे प्रियतम ! शीघ्र आ और मुझे मिल। हे प्रभो ! अब तो मैंने बहुत तपस्या कर ली, अपने आपको तपा लिया। अब तो दया कर !"

सूफी भक्त बुल्लेशाह के शब्दों में देखिए—

कद मिलसी मैं बिरहों सताई नूं।
आप न आवे न लिख भेजे, भट्ट अजेही लाई नूं।
तैं जेहा कोई होर न जाणां, मैं तन सूल समाई नूं।
रात दिने आराम न मैंनूं, खावे बिरह कसाई नूं।
बुल्लेशाह धृग जीवन मेरा, जौ लग दरस दिखाई नूं।

मुझ विरह की मारी वियोगिन को मेरा प्रियतम कब आकर मिलेगा। न तो स्वयं आता है और न ही पत्र द्वारा संदेश ही भेजता है। ऐसी प्रीति को आग लगे जो मुझे जलाती रहती है। मेरे हृदय में तो तेरे प्रेम की शूल चुभ रही है तथा मेरे समीप तेरे समान अन्य कोई और नहीं है। मुझे न रात को चैन है, न दिन को चैन है। तेरा वियोग वधिक कसाई की भाँति मुझे खाये जा रहा है। बुल्लेशाह कहते हैं कि मेरे जीवन को धिक्कार है कि मुझे प्रियतम का दर्शन प्राप्त नहीं हो रहा।

यहाँ बुल्लेशाह ने अपने प्रेम को प्रतीकात्मक रूप देकर उसका वर्णन किया है। जब जगत् के दुःखों से विमुख जीवात्मा के हृदय में प्रभु-मिलन की तड़प उसकी साधना हो जाती है, आत्म तत्व भक्त का प्रियतम होता है तथा जीवभाव में स्थित

भक्त उसकी प्रियतमा, तब भक्त इस शृङ्गारिक वियोग को अपने चित्त में अनुभव करता है। वह कहता है कि मेरा प्रियतम अर्थात् आत्मतत्व न स्वयं मेरे सम्मुख प्रस्तुत होता है तथा न ही उसकी ओर से प्रकाश-किरण ही दिखाई देती है। बीच-बीच में भक्त प्रियतम की भाँति रूठने का अभिनय करता है और कह उठता है कि आग लगे ऐसे प्रेम में ! ये सब बातें उसके दृढ़ प्रेम की परिचायक होती हैं क्योंकि इसके तत्काल पश्चात् बुल्लेशाह कह उठते हैं कि मुझे तेरे समान कोई दिखाई नहीं देता। उन्हें प्रतिक्षण भगवान् के मिलन की पीर अपने हृदय में अनुभव होती रहती है तथा जब तक दर्शन-लाभ नहीं कर लेते तब तक उन्हें अपने जीवन में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इसी वियोग-भाव का एक अन्य उर्दू कवि ने निम्न पंक्तियों में वर्णन किया है—

हम किनारे आ गए लेकिन किनारा न मिला।
वह तो किनारे हो गए हम को सहारा न मिला॥
उन से बिछड़े मुद्दतें बीतीं मगर वह सितमगर।
बारहा वायदे किए फिर भी दुबारा न मिला॥
राह में पलकें बिछाए बीतती जाती उमर।
हम तड़पते रह गए नूर सितारा न मिला॥

प्रियतम के वियोग में पीड़ित होकर कवि कहता है कि किनारे आकर भी मुझे किनारा प्राप्त नहीं हुआ। मेरे प्रियतम तो एक किनारे हो गये, किन्तु मुझे सहारा प्राप्त न हुआ। अपने प्रियतम से मिले लम्बा समय व्यतीत हो गया है किन्तु फिर भी वह अत्याचारी कई बार वचन देने के उपरान्त भी मुझे दोबारा नहीं मिला। उसकी राह निहारते-निहारते अपनी पलकें उसके रास्ते में बिछाए मेरी सारी आयु व्यतीत हो गयी।

हमारा हृदय उसके वियोग में तड़पता रहा, किन्तु फिर भी उस प्रियतम रूपी सितारे की रोशनी की झलक अभी तक देखने को नहीं मिली।

समुद्र के किनारे जाकर भक्त ठहर जाय और समुद्र में डुबकी लगाकर समुद्र की गहराई नापने में अक्षम रहे; वही स्थिति यहाँ पर दूसरे शब्दों में वर्णित की गयी है। भक्त किनारे पर खड़ा है किन्तु उसे पता ही नहीं कि वह किनारे पर पहुँच चुका है, जिस प्रकार जीव में आत्मतत्व अपरिवर्त्तनीय अवस्था में नित्य विराजमान है, किन्तु उसे उसकी अनुभूति नहीं है। अतः आत्मतत्व रूपी प्रियतम, समक्ष होता हुआ भी, एक ओर हो जाता है तथा भक्त को दिखायी नहीं देता। उपरोक्त बुल्लेशाह के पद की तरह ही प्रस्तुत कविता में भक्त खीज उठता है तथा अपने प्रियतम को अत्याचारी तक कह डालता है। उससे वियोग हुए जन्म-जन्मातर बीत गए। युग व्यतीत हो गये। कई बार उसे प्राप्त करने के लिए कठिन साधना की। कई बार ऐसा प्रतीत भी हुआ कि अभी ही आत्मदर्शन होने को ही है, किन्तु अभी तक वह सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। आगे चल कर कवि अपने विरही चित्त की अवस्था का वर्णन करता है। मार्ग में पलकें बिछाना, चित्त में निरन्तर प्रज्ज्वलित प्रतीक्षा ज्योति की द्योतक है जिसमें रत रहकर सारा जीवन व्यतीत होता जाता है। हृदय रह-रह कर वियोगाग्नि में जल उठता है, किन्तु अभी तक प्यारे प्रियतम के दर्शन नहीं हो पाए।

अब थोड़ा युगलप्रिया के विरह-वर्णन पर भी विचार कर लिया जाय। वे अपनी अन्तर्वेदना इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

नयननि नींद हिरानी, बोली कोयल बाग में।
श्रवन सुनत बरछी सी लागी, कहा बताऊँ जाग में॥

व्याकुल ह्वै सुध बुध सब भूली, हरि विरह की आग में।
जुगलप्रिया हरि सुधहूँ न लीन्हीं, कहा लिखिया भाग में ॥

सारा संसार सुख में सोया है, किन्तु मुझे नींद नहीं आ रही। मेरे कानों में कोकिल की मधुर ध्वनि सुनाई दे रही है (कोयल के बोलने से अन्तर्नाद परिलक्षित होता है) जिसे सुन कर मेरे हृदय में बरछी-सी लगती है। मैं जाग रही हूँ। शब्द-श्रवण हो रहा है। मेरा हृदय तड़प रहा है। ऐसे में मैं अपनी अवस्था का वर्णन नहीं कर सकती हूँ। पिया-मिलन की आवेश-पूर्ण जिज्ञासा में मेरा हृदय जल रहा है। मेरा मन जगत् की ओर से सब सुध-बुध भुला बैठा अर्थात् युगलप्रिया जी कहती हैं कि मेरे प्रारब्ध में क्या लिखा है कि मेरे प्रियतम प्रभु मेरी सुधि नहीं लेते।

अन्तर्शक्ति की जागृति का कितना स्पष्ट संकेत है। दिव्य श्रवण या अन्तर्नाद इस पद का आधार है जिस पर युगलप्रिया ने विरह का विशाल भवन खड़ा किया।

अब ज़रा कबीर के विरह-वर्णन पर भी दृष्टिपात कर लिया जाय। अपने एक पद में वे कहते हैं—

आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥

प्रभु प्रियतम के आने का रास्ता देखते-देखते मेरी आँखों के आसपास काली झाँइयाँ पड़ गई हैं तथा उनका नाम रटते मेरी जिह्वा पर छाले पड़ गए। कबीर के विरह-वर्णन का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है। यह विरह-वर्णन बाह्य सांसारिक न होकर आन्तरिक है जिसका वर्णन बाह्य आधार लेकर किया गया है। साधना करते-करते लम्बे समय तक जब

अन्तर्शक्ति की जागृति का अनुभव साधक को नहीं होता, तब उसका हृदय इसी प्रकार पुकार उठता है।

शृङ्गार रस के दूसरे स्वरूप मिलन की भी यह पद एक अभिव्यक्ति है—

मैं अपने सैयाँ संग सांची।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची॥
दिवस भूख न चैन कबहूँ नींद निसि नासी॥
बेध वार पाई ह्वै गो ग्यान गुह गाँसी॥
कुल कुटुम्बी आन बैठे मनहु मधमासी।
दासी मीरा लाल गिरधर मिटी सब हाँसी॥

अर्थात् मैं वास्तव में अपने प्रियतम प्रभु के संग रमण करती हूँ। अब तो मुझे यह कहने में किसी भी बात की लज्जा नहीं। मेरे सभी संकोच छूट गए। सभी बातें प्रकट हो गयी हैं तथा मैं आनन्द-विभोर होकर नाच उठी हूँ।

प्रभु-दर्शन के आनन्द में मीरा ऐसी आनन्द-विभोर हुई कि दिन में उसे खाने-पीने की सुध नहीं, रात्रि में नींद भी उड़ गई तथा आनन्द में क्षणमात्र भी चैन से बैठना नहीं हो पाता। भक्ति, शक्ति आह्लादिनी अपनी क्रियाशीलता के वेग में चित्त के संस्कारों, विकारों, वासनाओं एवं संशयों के आवरणों का वेध करती हुयी मेरी ज्ञान-गुहा में प्रविष्ट कर गयी, जहाँ मैं हरि प्रियतम के आनन्दोल्लास में उनका गुणगान करने लगी। प्रभु-मिलन की मधुरता मेरे मन में समायी थी। जगत् की ओर से मैं उदासीन थी। बाहर से दीखने में मृतवत् थी। सगे-सम्बन्धी आश्चर्यचकित हो निकट आ बैठे, उनका हँसी उड़ाने का समय व्यतीत हो चुका। ऐसे प्रभु गिरधरलाल की मीरा दासी है।

उपरोक्त पद में मीराबाई ने भक्ति-शक्ति की अलौकिक क्रिया का वर्णन किया है। आह्लादिनी अन्तर में प्रकट होकर संस्कारों, विकारों को क्षीण करती हुयी आत्माभिमुखी अग्रसर होती है जिसे योगिक भाषा में मूलाधार आदि छः चक्रों का वेध कहा जाता है। वेध हो जाने पर साधक को समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है जिसे मीराबाई ने यहाँ ज्ञानगुहा कहा है। इस अवस्था में साधक का चित्त बाह्य ज्ञानशून्य हो जाता है अर्थात् चित्त का जगत् के भाव अथवा अभाव का ज्ञान समाप्त हो जाता है। ये सब आह्लादिनी शक्ति के प्रतिप्रसव-क्रम में अग्रसर होते हुए चित्त से तादात्म्य तोड़ देने पर ही सम्भव होता है। एक अध्यात्मप्रेमी यारी साहब के हृदय के उद्गार किस रूप में प्रस्फुटित होते हैं, देखिए—

बिरहिनी मंदिर दिए ना बार ॥
बिन बाती बिन तेल, जुगत सों, बिन दीपक उजियार।
प्रान प्रिया मेरे गृह आये, रचि-पचि सेज सँवार ॥
सुख मन सेज परम तत रहिया, पिय निरगुन निराकार।
गावहु री मिलि आनंद-मंगल 'यारी' मिल के यार ॥

उपरोक्त पद में यारी साहब विरही साधकों को उपदेश करते हुए इस प्रकार सीख देते हैं—"ऐ साधकों! बाहर के स्थान पर अपने मन-मन्दिर में दीपक प्रकाशित करो। यह अन्तः दीपक तो बिना तेल, बत्ती के ही प्रकाश करता है। इसकी युक्ति ईश्वरीय शक्ति आह्लादिनी को अन्तर्मुखी जागृत करना है। तब बिना बाह्य उपकरणों के तेरा अन्तर्चित्त प्रकाशित हो उठेगा। मेरे प्राणों के प्यारे प्रियतम मेरे घर आये हैं। घर का तात्पर्य यहाँ चित्त से है। अर्थात् मेरे चित्त में मेरे प्रभु प्रियतमस्वरूप आत्मिक शक्ति जागृत होकर प्रका-

शित हो गयी है। आह्लादिनी शक्ति ने प्रकाशित होकर क्रियाशीला होने के उपरान्त मेरे चित्त के संस्कारों, विकारों को नष्ट कर मेरी चित्त रूपी सेज का श्रृङ्गार कर दिया है। विकारों के स्थान पर चित्त में दया, क्षमा, शान्ति, प्रभु-प्रेम इत्यादि सद्गुण शोभा पाते हैं जिनकी सुगन्ध से सारा चित्त महक रहा है। ऐसी सुखदायक चित्त रूपी सेज पर परम तत्त्व आत्म तत्त्व की प्रतिबिम्ब रूपी चैतन्य शक्ति प्रकाशित हो रही है जिसका स्वरूप चित्त पर प्रतिबिम्बित होते हुए भी निरंजन, निराकार है। अतः, ऐ प्रेमी भक्तों ! सब मिलकर आनन्द-मङ्गल गाओ क्योंकि यारी को उसका प्रभु प्रियतम मिल गया है।

अब तनिक कबीर का भी मिलन श्रृङ्गार देखिए—

बहुत दिनन मैं प्रीतम पाये।
भाग बड़े घरि बैठें आये॥
मंगलाचार माँहि मन राखौं, राम रसायन रसना चाखौं।
मन्दिर माँहि भया उजियारा, ले सुरती अपना पीव पियारा॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यह तुहहि बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछु न कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा॥

अर्थात् बहुत दिनों की निरन्तर कठिन साधना एवं प्रयत्न के पश्चात् प्रभु प्रियतम रूपी आत्मिक शक्ति मेरे चित्त में जागृत हुई है। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे कहीं आने-जाने अथवा किसी के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं पड़ी। घर बैठे ही मेरे चित्त में आत्मिक शक्ति अन्तर्मुखी जागृत हुई है। अब चित्त में स्वयमेव घटित होने वाली मङ्गल क्रियाओं में मेरा मन प्रतिक्षण रमा रहता है तथा मेरे मुख से अपने आप अजपा-जप प्रवाहित होता रहता है (जिसे यहाँ पर कबीर ने

राम-रसायन कहा है। आयुर्वेद में रसायन से सोना बनाया जाता है। अध्यात्म में समाधि अवस्था की प्राप्ति अथवा शक्ति की अन्तर्मुखी जागृत होने की पूर्व अवस्था सोना है। आह्लादिनी के जागृत होने पर मेरा मन आत्मा के ज्ञान-प्रकाश से भर गया है तथा मैं अपने प्रियतम प्रभु को साथ लेकर एक सेज पर सो गयी हूँ (अर्थात् जीवात्मा का आत्मा से मिलन हो गया है)। मुझे जिस अमूल्य निधि की प्राप्ति हुई है, उसमें मेरा जप-तप कोई कारण नहीं है। हे प्रभो! यह तो सब तुम्हारी कृपा है, क्योंकि जो कुछ भी मङ्गल घटित होता है, वह सब शक्ति के अन्तर्मुखी जागृत, प्रकाशित एवं क्रियाशीला होने पर स्वयमेव होता है। अपने प्रयत्न से कुछ नहीं होता। यह सब शक्ति की महिमा है।

कबीर साहब कहते हैं कि मैंने कुछ नहीं किया, मेरे प्रयत्न से कुछ होने वाला भी नहीं, यह तो उस प्रभु की महान् अनुकम्पा है कि उसने मुझे अखण्ड सुहाग प्रदान किया है।

शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति होने के उपरान्त साधना का अन्तर्मुखी आनन्द निरन्तर देखते रहने पर कालान्तर में साधक की चित्त-स्थिति ऐसी हो जाती है कि वह रोम-रोम में उसी शक्ति को अपने से भिन्न कार्यरत अनुभव करने लगता है। योग-मार्ग में इसी को घटावस्था कहा जाता है। जिस प्रकार घट पानी से लबालब भर जाता है, उसी प्रकार साधक को यह शरीर रूपी घट शक्ति से लबालब भरा हुआ अनुभव होता है। इस स्थिति का वर्णन दादूदयाल ने निम्न पद में किया है—

तूँ ही मेरे रसना तूँ ही मेरे बैना।
तूँ ही मेरे सपना तूँ ही मेरे नैना॥

तूँ ही मेरे आतम कँवल मँझारी ।
तूँ ही मेरे मनसा तुम्ह परिवारी ।।१
तूँ ही मेरे मन ही तूँ मेरे साँसा ।
तूँ ही मेरे सुरतैं प्राण निवासा ।।२
तूँ ही मेरे नख सिख सकल सरीरा ।
तूँ ही मेरे जियरे ज्यूँ जल नीरा ।।३
तुम्ह बिन मेरे और कोई नाहीं ।
तूँ ही मेरी जीवनि दादू माँ ही ।।४

दादूदयाल ने उपरोक्त पद में ऐसी शक्ति का वर्णन किया है जिससे युक्त होकर यह शरीर तथा शरीर का प्रत्येक अवयव कार्यशील होता है। उसी शक्ति को संबोधित करते हुए दादूदयाल जी कहते हैं कि वास्तव में तेरी शक्ति से युक्त होकर ही मेरी जिह्वा कार्य करती है जिससे मेरे मुख से भाँति-भाँति के बोल निकलते हैं। यदि यह शक्ति कार्यरत न हो तो न तो कर्णेन्द्रिय श्रवण ही कर सकती है और न ही नेत्र देख सकते हैं। वह शक्ति ही वास्तव में आत्मतत्त्व है अर्थात् शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं है। उस शक्ति के तादात्म्य में आने पर ही मन सङ्कल्प, विकल्प करता है। जब तक प्राण-शक्ति शरीर में कार्यरत रहती है, तभी तक शरीर परिवारी है अर्थात् जितने भी रिश्ते-नाते हैं, सब जीवित अवस्था में ही सम्भव हैं। जब शक्ति शरीर में कार्य करना बन्द कर देती है, तब सभी सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं।

मेरे मन में विचार तभी तक उठने सम्भव हैं जब तक कि मन उस आत्मिक शक्ति के संयोग से जीवित है। श्वास-प्रश्वास की गति भी प्राणशक्ति का ही एक कार्य है तथा चित्तवृत्ति भी

उसी से संयोग होने पर सम्भव है। मेरे नाखून तथा शरीर के बाल तभी तक बढ़ते हैं, जब तक शरीर में प्राण अथवा ईश्वरीय शक्ति कायम रहती है। अधिक क्या कहूँ, सारा शरीर ही तभी तक अस्तित्व बनाये रखता है, जब तक उसमें शक्ति अथवा प्राण विद्यमान हो अर्थात् तू ही मेरा जीवन है, हृदय है। यदि विचार कर देखा जाय तो जगत् में कोई अपना नहीं है। केवल प्राण ही साथ जाने वाला है। शरीर में प्राण का कार्यरत होना ही जीवन कहलाता है। दादूदयाल की भी यही स्थिति है।

यदि सच कहा जाय तो भगवान् के प्रति प्रेम तथा समर्पण का भाव, चित्त के संस्कारों, विकारों को शुद्ध कर सद्गुणों से सजाना एवं जगत् के प्रति वैराग्य का भाव रखना—यही आध्यात्मिक शृंगार है। चित्त की इसी अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न करना साधना कहलाती है। गौणी भक्ति के बाह्य शृंगार से आरम्भ कर आंतरिक साधना की टेढ़ी-मेढ़ी बीथियों से होती हुई समाधि तक पहुँचने की यात्रा साधना कहलाती है। अलङ्कारों, प्रतीकों, उदाहरणों के माध्यम से सन्त तथा भक्त कवियों ने अपने पदों में इसी भक्तिभाव का उल्लेख किया है।

हास्य—

हास्य चित्त की प्रसन्नता का द्योतक है। बाह्य हास्य में जगत् में कोई ऐसी घटना होती है जिसका चित्त पर अत्यन्त प्रसन्नता का प्रभाव पड़ता है। जब चित्त में अत्यन्त प्रसन्नता का भाव उदय होता है, तब चित्त में हास्य रस का भाव उदय होता है। कई बार हास्य रस इतना तीव्र गति से घटित होता है कि हँसी रोकने से भी नहीं रुकती।

आन्तरिक हास्य बिना बाह्य अनुकूलता के शक्ति के द्वारा अंतर के तत्सम्बन्धी पूर्व सञ्चित संस्कारों के उदय होने पर अस्तित्व में आता है। देखने में आन्तरिक हास्य बिना किसी प्रकट कारण के उदय होता है। किन्तु बिना कारण कोई भी कार्य सम्भव नहीं है। ज्ञात अथवा अज्ञात कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। जब इस प्रकार के हास्य के संस्कार उदय होते हैं तो शक्ति की क्रियाओं के रूप में हास्य प्रकट हो जाता है और इस प्रकार हास्य के वे संस्कार क्षीण हो जाने पर हास्य की वह क्रिया समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार सामूहिक कर्म होते हैं, उसी प्रकार कर्मों का सामूहिक फल-भोग भी होता है। कई बार समूह-साधन में कई साधक मिलकर अकारण ही जोर-जोर से हँसना आरम्भ कर देते हैं। यह क्रिया समूह-हास्य कही जाती है। शक्ति की स्वतःसिद्ध क्रियाओं में हास्य निम्न छः प्रकार से घटित होता है—

१. स्मित—मधुर मुस्कान।
२. हसित—धीरे-धीरे हँसना।
३. विहसित—विशेष उल्लसित होना।
४. अविहसित—हँसने की ध्वनि को दबाते हुए हँसना।
५. अपहसित—अट्टहास करते हुए हँसना।
६. अतिहसित—निरन्तर अट्टहास करते रहना।

वीर रस—

वीर रस का अर्थ है अपनी शारीरिक क्षमता का अति उत्साहवर्धक प्रदर्शन। साधक को जब क्रियाओं में वीरता के संस्कार उदय होते हैं तो उसे वीर रस का आवेश आ जाता है। इस वीर रस का बाह्य जगत् के घटना क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं होता। तब साधक अत्यन्त स्फूर्तिदायक, जोर-जोर से या

तो गर्जना करने लगता है अथवा तर्जना। तर्जना का अर्थ है डाँटना-फटकारना। क्रियाओं में साधक कई बार इस प्रकार की क्रियाएँ करते देखे जाते हैं जैसे उनके समक्ष कोई बैठा है और वह उसे जोर-जोर से डाँट रहा है, जब कि इसका कारण बाह्य नहीं, केवल आन्तरिक होता है। कभी-कभी साधक शेर की तरह दहाड़ने (आस्फालन) लगता है अथवा अत्यन्त आवेश में भरकर अपने शरीर को तोड़ता-मोड़ता है। कभी मुक्के तानता, मारता है। कभी वीरासन में बैठ जाता है। वीर भाव में साधक की सभी क्रियाएँ वीरता से परिपूर्ण होती हैं।

दया—

अर्थात् करुणा चित्त की सत्वगुणी वृत्ति है तथा सन्तों के प्रेमी हृदय का शृंगार है। यहाँ संसारी जीव प्रायः हृदय के कठोर होते हैं। दूसरों के दुःख को देखकर अथवा दूसरों को दुःख देने में उनका हृदय नहीं पसीजता जबकि प्रेमी भक्त दूसरों को दुःखी देखकर दयार्द्र हो उठते हैं तथा दूसरों को दुःख देने के बदले उनके हृदय में उनके प्रति करुणा का भाव जागृत हो उठता है।

दया के पूर्व सञ्चित संस्कार जब शक्ति की क्रियाओं में स्फुटित हो जाते हैं, तब साधक के चित्त में दया के भाव तरङ्गित हो जाते हैं। वह संसार के दुःखी प्राणियों के प्रति दयालु हो उठता है। क्रिया में भगवान् से ऐसे दुःखी अर्थात् विषययुक्त प्राणियों के प्रति उदार भावना अपनाने की प्रार्थना करता है। क्रियाओं में ही उसके मुख पर दया के भाव मुद्रित हो जाते हैं। इससे उसके चित्त में दया के सञ्चित संस्कार क्षीण होकर चित्त शुद्ध होता है।

दया का भाव भी वास्तव में पुरुष का स्वाभाविक गुण नहीं है। पुरुष अथवा आत्मा के स्वाभाविक गुण नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हैं। दया, क्षमा, उदारता, अक्रोध इत्यादि सत्वगुण आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्राप्त कराने में सहायक होने से धर्म कहे जाते हैं। अन्ततः तो इन अस्वाभाविक गुणों के संस्कारों, आवरणों को भी जब तक चित्त से उतारा नहीं जायेगा, तब तक आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट नहीं होंगे। चित्त के अन्दर सञ्चित शुभ-अशुभ इन्हीं संस्कारों को क्षय करने का कार्य आह्लादिनी शक्ति जागृत एवं क्रियाशीला होकर सम्पादित करती है तथा साधक को आत्मा के स्वाभाविक गुणों एवं धर्मों की स्थिति को प्राप्त करने की ओर प्रेरित करती है।

भय—

भय से सभी भयभीत हैं। कोई भी अपने चित्त को भययुक्त नहीं करना चाहता, किन्तु फिर भी प्रायः जीव भय में ही जीवन यापित करते हैं। मनुष्य के पीछे भाँति-भाँति के भय लगे हैं। मृत्यु-भय से तो सभी लोग ग्रसित हैं। उन भयों के संस्कार भी उनके चित्त में सञ्चित होते रहते हैं। आह्लादिनी शक्ति द्वारा चित्त शुद्धिकरण के क्रम में जो क्रियाएँ घटित होती हैं, उनमें भय के भाव भी प्रकट होते हैं। तब साधक को पूर्व अनुभूत एवं घटित घटना अपने चित्त में ज्यों-की-त्यों घटित होती हुई प्रतीत होती है जिससे उसका चित्त भय से भर जाता है। साधक भी भय की मुद्रा बनाता है, भयभीत होकर मुख से शब्द निकालता है, चिल्लाता है। इन क्रियाओं के माध्यम से पूर्व सञ्चित भय के संस्कार क्षीण होते चले जाते हैं जिससे चित्त निर्मल होता चला जाता है।

वीभत्स—

इसके अन्तर्गत जुगुप्सा या घृणाजनक भाव का चित्त में उदय होता है। साधक अपने पूर्व जन्मों में कई घृणित एवं गन्दे कर्म कर चुका होता है, जैसे—गन्दी वस्तुएँ खाना, अपशब्द बोलना, गन्दा रहन-सहन, गन्दे वस्त्र धारण करना, गन्दे स्थानों पर जाना, गन्दे दृश्य देखना, गन्दी बातों का विचार करना इत्यादि। इनसे उसके चित्त में संस्कार सञ्चित होते हैं। आह्लादिनी की क्रियाओं में जब वे संस्कार उभर कर क्रियाओं में परिणित होते हैं तो साधक अपनी साधना में वैसी ही चेष्टाएँ करने लगता है, मुख से गन्दे अपशब्द इत्यादि बोलता है।

सप्रेम भक्तियुक्त शान्त भाव—

कई बार साधकों को अपनी साधना में सब प्रकार की क्रियाएँ और चेष्टाएँ स्तब्ध होती हैं और वे शान्त भाव से बैठ जाते हैं। उस समय उनके चित्त में या तो शान्तभाव के संस्कार उदय हो जाते हैं या चित्त की निर्विषय अवस्था के। इसका अर्थ यह है कि इस अवस्था में उनका चित्त कार्य तो करता रहता है, किन्तु बार-बार चित्तवृत्ति विषयों के अभाव पर जाकर टिक जाती है जिससे न तो चित्त में कोई विचार या भाव पैदा होता है और न ही शरीर में कोई चेष्टा अथवा क्रिया उदय होती है। चित्त में शान्त अथवा निर्विषय अवस्था के संस्कार भी आवरण रूप ही हैं तथा चित्त-शुद्धि के लिए इन आवरणों का दूर हटना भी अनिवार्य होता है जिसे आह्लादिनी शक्ति प्रतिप्रसवक्रम में अग्रसर होती हुई सम्पादित करती जाती है।

इस स्थिति का वर्णन कबीर साहब ने इन शब्दों में किया है—

दरस दीवाना बावला अलमस्त फकीरा।
एक अकेला ह्वै रहा अस मत का धीरा॥
हिरदे में महबूब है, हरदम का प्याला।
पीवेगा कोई जौहरी गुरुमुख मतवाला॥
पियत पियाला प्रेम का सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहै जस मैगल हाथी॥
बन्धन काट मोह के बैठा निरसंका।
वाके नजर न आवता क्या राजा क्या रंका॥
धरती तो आसन किया, तम्बू आसमाना।
चोला पहरा खाक का, रह पाक समाना॥
सेवक को सत गुरु मिलै, कछु रहि न तबाही।
कह कबीर निज घर चलो, जहाँ काल न जाही॥

चित्त के आनन्दमय शान्तभाव का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि दर्शन प्राप्त करने के दीवाने ऐ अलमस्त फकीर! तू अपने हृदय में दृढ़निश्चयी होकर उसी के ऊपर डटा रह। तेरा प्रियतम तेरे हृदय में ही निवास करता है जिसके मिलन की मस्ती में तू हरदम उसी के नशे में मस्त रहता है। किन्तु कोई जानकार व्यक्ति ही, जो गुरुमुख होता है, गुरु के आदेश, उपदेश एवं मार्गदर्शन के अनुसार अपने जीवन का विकास करता है तथा गुरुप्रदत्त साधन का अधिकाधिक विकास करने का प्रयत्न करता है, वही इस प्याले को पीता है। इस प्रेम के प्याले को पीकर सभी साथी सुधर गये हैं अर्थात् चित्त की सभी अशुद्ध वृत्तियाँ शुद्ध, शुभ एवं सत्वगुणी परिवर्तित हो गयी हैं। अब तो मन प्रतिपल आठों पहर पागल हाथी की तरह मस्ती में

झूमता रहता है। चित्त में विद्यमान मोह के सभी बन्धन कट गये हैं तथा मैं एक दम निःशङ्क होकर बैठ गया हूँ। मन में कोई दुविधा भी नहीं रही। ऊँच-नीच का भाव समाप्त हो गया है, क्योंकि राजा और भिखारी शरीर से होते हैं। मेरे लिए सभी शरीर गौण हो गये हैं एवं शरीरों के अन्दर का आत्मतत्व प्रत्यक्ष हो उठा है जिसमें ऊँच-नीच नहीं है और जिससे मेरे चित्त में समानता का भाव उदय हो गया है। अब तो मैंने भवन, कुटिया इत्यादि का मोह भी छोड़ दिया है। मनकी ऐसी तैयारी हो गयी है कि पृथ्वी को ही वह अपना आसन समझता है जिसके ऊपर आकाश रूपी तम्बू तना हुआ है। यह शरीर रूपी वस्त्र धारण किये हुए है। यह शरीर भी तो मिट्टी का बना है। अब तो मैं इस शरीर, मन और बुद्धि सब को पवित्र किये रहता हूँ।

अब तो सेवक को सद्गुरु प्राप्त हो गये हैं अर्थात् आत्मोपलब्धि हो गयी है। कबीर आत्मा को गुरु मानते हैं क्योंकि आत्मा की चैतन्य शक्ति चित्त में प्रकाशित तथा व्याप्त होकर तम को हर लेती है, सर्वत्र प्रकाश फैला देती है। आत्मा ही सत्य है, शेष सारा जगत्, शरीर, चित्त, बुद्धि, मन इत्यादि मिथ्या हैं। अतः कबीर का सद्गुरु आत्मा ही है। इस सद्गुरु के मिलने पर कोई तबाही अर्थात् नाश शेष नहीं रहा। जब तक सद्गुरु नहीं मिले थे, तब तक जगत् की प्रत्येक मिथ्या वस्तु नाशवान थी। जगत् में चारों ओर विनाशलीला हो रही थी। किन्तु जहाँ भक्त की दृष्टि अन्तर्मुखी हुई, उसके चित्त का अँधेरा दूर हुआ, सद्गुरु समक्ष प्रकट हुए कि नाशवान जगत् गौण हो गया। फिर तो नित्य, सत्य आत्मा का आनन्द ही आनन्द है। कबीर कहते हैं कि अब तो निज घर चलो जहाँ

काल की गति नहीं है। जीव का अपना घर आत्मस्थिति है। जैसे घर से बाहर निकलने पर मनुष्य को असुविधा एवं कष्ट उठाने पड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपनी आत्मस्थिति से बाहर निकल कर अपनी वृत्ति के द्वारा जगत् में दुःख ही दुःख पाता है। किन्तु जब उसका निवास अपने घर में ही हो जाता है, तब जीव जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। जन्म-मरण के चक्र में जीव तभी तक पड़ा रहता है, जब तक आत्मस्थिति से च्युत होकर वासना बनी रहती है। वासना ही अगले जन्म का हेतु होती है, किन्तु आत्मस्थिति में काल की गति नहीं है।

अब थोड़ा तुलसीदास जी के विचार भी इस स्थिति पर देखिये। वहाँ पहुँच कर उन्हें समझ आ जाती है कि मैं अभी तक भ्रान्ति में ही पड़ा था। सब कुछ अपने अन्दर ही था, किन्तु में बाहर खोजता रहा—

अब कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित, मोह न छूटै माया ॥१
बाक्य ग्यान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीपकी बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई ॥२
जैसे कोइ इक दीन दुखित अति, असन हीन दुख पावै।
चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह, लखे न बिपति नसावै ॥३
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैन बखानै।
बिनु बोले संतोष-जनित सुख, खाइ सोइ पै जानै ॥४
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकाश अरु, विषय आस मनमाहीं।
तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत, सपनेहु सुख नाहीं ॥५

हे रघुनाथ जी ! अब जबकि मेरा चित्त संस्कारों, विकारों से शुद्ध एवं शान्त हुआ है, तब कहीं जाकर मुझे कुछ वास्त-

विकता समझ पड़ी है। जब तक तुम्हारी कृपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई थी, तब तक मेरा मोह और माया छूट कर मेरा कल्याण नहीं हुआ। अर्थात् जब तक तुम्हारी शक्ति ने अन्तर्मुखी जागृत क्रियाशीलाहोकर मेरे चित्त में पड़े मोह तथा माया के आवरण को शुद्ध कर, मेरा चित्त निर्मल नहीं बना दिया, तब तक मेरे भाग्य में कल्याण नहीं था। जगत् में शास्त्रों के तथाकथित विद्वान् पंडित बहुत हैं, किन्तु भवसागर को तैर कर कोई भी पार नहीं कर सका। अपने घर अर्थात् चित्त में ही ज्ञानदीपक जल रहा है, किन्तु फिर भी चित्त का अँधेरा दूर नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति असह्य दुःख भोगता रहता है, सर्वसुखदाता कल्पतरु अथवा कामधेनु उसके घर में ही होती है, किन्तु वह अपनी विपत्ति को दूर नहीं कर सकता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति दिन-रात बहुत प्रकार के षट्रस भोजनों का वर्णन करता रहता है, किन्तु जो इनको खाता है, वही इनके आनन्द को जानता है तथा बिन बोले जो इनके आनन्द को भोगता है, उसे अतीव सन्तोषजनक सुख प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब तक अपने हृदय में विषय एवं आशा का अन्धकार दूर होकर सर्वत्र प्रकाश नहीं फैल जाता तब तक, तुलसीदास जी कहते हैं, मनुष्य को सपने में भी सुख उपलब्ध नहीं होता तथा वह एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमित होता रहता है।

तुलसीदास जी के कहने का भाव यह है कि सर्व सुख एवं ज्ञान का भंडार आत्मा एवं आत्मशक्ति के रूप में मनुष्य के चित्त में सर्वदा विद्यमान है। किन्तु उसकी ओर से उदासीन होकर जीव जगदाभिमुखी प्रवृत्त होता है। जीव के अन्दर कार्य कर रही परा शक्ति आत्मा की ओर पीठ देकर जगदाभिमुखी अग्र-

सर होती है। अर्थात् प्रसवक्रम में चित्त एवं इन्द्रियों पर कार्य करती हुई तथा उन्हें गतिशीलता प्रदान करती हुई जगत् में प्रसार, प्रचार करती है। तब जीव के चित्त में संस्कार, वासनाएँ, इच्छाएँ, विकार, संकल्प-विकल्प एवं जगदाभिमुखी विचार घर कर जाते हैं। जीव इनके कारण जगत् में आसक्त होता तथा सुख-दुःख प्राप्त करता है। सुख की कल्पना में विषयों के पीछे भागता है, किन्तु दुःख ही दुःख भोगता है। जिस प्रकार घर में दीपक होते हुए भी कोई व्यक्ति अँधेरे में बैठा रहे अथवा घर में कामधेनु या कल्पतरु होते हुए भी दीन, हीन एवं दुःख का जीवन व्यतीत करे, ऐसी ही स्थिति जीवों की भी हो रही है। संस्कारों, वासनाओं को क्षीण करने वाली शक्ति उनके चित्त में ही विद्यमान होती है। आत्मा का ज्ञान-दीपक भी चित्त में प्रज्ज्वलित होता है। किन्तु फिर भी चित्त में तमोगुणी अथवा रजोगुणी संस्कार संचित होते हैं जिनसे चित्त पर तमोगुण, रजोगुण का साम्राज्य छाया रहता है। यदि जीव आत्मा में कार्यरत बहिर्मुखी शक्ति को अलग कर अन्तर्मुखी जागृत एवं प्रकाशित करने में सक्षम हो जाय तो वही शक्ति उसके चित्त के तम को नाश कर, जीव को आत्यंतिक सुख की उपलब्धि करा सकती है। परन्तु, हे प्रभो ! मुझे अब समझ आयी है कि तेरी कृपा के बिना पराशक्ति अन्तर्मुखी जागृत होकर माया के आवरण को क्षीण करने का महत् कार्य सम्पादित नहीं कर सकती।

पद का भाव यह है कि तुलसीदास जी की चित्त-शक्ति ईश्वर-कृपा के फलस्वरूप अन्तर्मुखी क्रियाशीला होकर उनके चित्त को शुद्ध कर चुकी थी। जन्म-जन्मान्तर के उनके दुःख छूट कर उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो चुकी थी। तभी तो उनका

मन प्रभु की आनन्ददायक मस्ती में आनन्दित एवं शान्त भाव में स्थित होकर उपरोक्त पद उनके अन्तर से प्रस्फुटित हुआ।

प्रेम-भक्ति-पूर्वक शान्तभाव की मस्ती उर्दू भक्त कवि नजीर की वाणी में कैसे परिलक्षित होती है, देखिये—

है आशिक और माशूक जहाँ वाँ शाह वजीरी है बाबा।
नै रोना है, नै धोना है, नै दर्दे असीरी है बाबा।
दिन-रात बहारें-चोहलें हैं, औ ऐशे सफीरी है बाबा।
जो आशिक हुए सो जानै हैं, यह भेद फकीरी है बाबा।
हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥

कुछ जुल्म नहीं, कुछ जोर नहीं, कुछ दाद नहीं, फरियाद नहीं।
कुछ कैद नहीं, कुछ बन्द नहीं, कुछ जब्र नहीं आजाद नहीं।
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं, बीरान नहीं, आबाद नहीं।
हैं जितनी बातें दुनियाँ की, सब भूल गये कुछ याद नहीं।
हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥

जिस सिम्त नजर कर देखे हैं, उस दिलवर की फुलवारी है।
कहीं सब्जी की हरियाली है, कहीं फूलों की गुलक्यारी है।
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं, और आस उसी की भारी है।
बस, आप ही वो दातारी है, और आप ही वो भण्डारी है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥

हम चाकर जिसके हुस्न के हैं, वह दिलवर सबसे आला है।
उसने ही हमको जी बख्शा, उसने ही हमको पाला है।
दिल अपना भोला-भाला है, और इश्क बड़ा मतवाला है।

क्या कहिये और 'नजीर' आगे, अब कौन समझने वाला है ?
हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है बाबा ।।

नजीर कहते हैं कि जहाँ भक्त और भगवान् एक दूसरे के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं, वहाँ जगत् बीच में से हट जाता है। वहाँ राजा तथा उसके मन्त्री की तरह दोनों होते हैं अर्थात् जब जगत् का महत्व समाप्त हो जाता है तो चित्त की वृत्तियाँ तथा संस्कार समाप्त हो जाते हैं। मन की दुविधाएँ और संशय मिट जाते हैं। जगत् की वासनाएँ जगत् में वापिस लौट जाती हैं, तब चित्त आनन्द एवं शान्त होता है। एक विचित्र-सी मस्ती होती है और जगत् में आत्मा राजा की तरह और जीवात्मा वजीर के समान होता है। न जगत् में किसी से कुछ लेना और न किसी को कुछ देना शेष रहता है। न किसी प्रकार की पीड़ा, दुःख, क्लेश, विक्षेप इत्यादि ही रहते हैं।

उस अवस्था में खुशियाँ, उमंगें एवं निश्चिन्त अवस्था का आनन्द होता है। ये विचित्र फकीरी है। भगवान् के जो भक्त मस्त तथा फकीर हो गये तो फिर उनमें संसार के प्रति दीनता के भाव की क्या आवश्यकता है ?

उस अवस्था में न तो कोई अत्याचार है तथा न ही किसी प्रकार की ज़ोर-जबरदस्ती। न ही कोई खुशामद है तथा ना ही अपने दुःखों के बारे में किसी से नम्र प्रार्थना, न तो कोई सीमाओं में बँधा है और न ही किसी का बंधक है। किसी पर कोई धौंस नहीं और न ही कोई आजाद है। ना कोई शिष्य है और न ही कोई गुरु। न वीरान है, ना आबाद है। संसार की

जितनी भी बातें हैं, उस अवस्था में सभी भूल जाते हैं। कुछ भी याद नहीं रहता।

जिस ओर भी दृष्टिपात करते हैं अपने प्रियतम की फुलवारी ही दिखाई देती है। कहीं पेड़ पत्तों की हरियाली तथा कहीं फुलवारी दृष्टिगोचर होती है। दिन-रात चौबीसों घण्टे मगन एवं आनन्दित बैठे हैं। बस, एक अपने प्रियतम का ही सहारा है। वह दाता भी आप ही है और भण्डारी भी है।

हम जिस प्रियतम के सौन्दर्य के दास हैं, वे प्रियतम संसार में सर्वोत्तम हैं। उसी ने हमको यह जीवन प्रदान किया है एवं वही हमारा पालन करता है। अपना हृदय तो बहुत भोला-भाला है और भगवान् के प्रति प्रेम का भाव बहुत भतवाला है।

नजीर कहते हैं कि इससे आगे की स्थिति का वर्णन क्या करें, क्योंकि उसको कोई समझने वाला तो है नहीं।

नवधा-भक्ति

भक्ति-मार्ग में नवधा-भक्ति का बहुत ही अधिक गुणगान किया जाता है। यह विषय इतना सरल एवं सुबोध नहीं है जितना कि सामान्यतः समझ या मान लिया जाता है। रामचरितमानस में शबरी को उपदेश करते हुए श्री रामचन्द्र जी कहते हैं कि जिस मनुष्य में नवधा में से एक प्रकार की भी भक्ति होती है, वह मनुष्य तर जाता है। तुम में तो नौ की नौ ही हैं, अतः तुम्हारा उद्धार तो अवश्यम्भावी है। कारण यह है कि भक्ति की आन्तरिक अवस्था में एक ऐसी स्थिति आती है जिसके परिणाम-स्वरूप भक्ति के नौ के नौ अङ्ग ही प्रकट होते हैं।

यह हम पहले ही कह आये हैं कि भक्ति किसी क्रिया का नाम नहीं, अपितु चित्त की एक अवस्था विशेष है—(न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्। शाण्डिल्य-भक्तिसू० १/१/७)—अर्थात् भक्ति क्रिया रूप नहीं है क्योंकि ज्ञान की भाँति वह भी कर्त्ता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती। जिस भक्त की चित्त-स्थिति नवधा-भक्ति के विभिन्न अङ्गों को अपने में स्वभावतः ही धारण किये हुए है, उसे वास्तव में ही भक्त कहा जाता है। नवधा-भक्ति बाह्य एवं आन्तरिक दो प्रकार की होती है। बाह्य भक्ति में भक्ति प्रयत्नपूर्वक होती है जिसे गौणी भक्ति भी कहा जाता है। आन्तरिक भक्ति में वह स्वाभाविक, स्वतः-सिद्ध होती है जो आह्लादिनी शक्ति के अन्तर्मुखी जाग्रत होने

पर स्वमेव घटित होती है। इसे ही नारदकथिता परमप्रेमरूपा भक्ति, शाण्डिल्य के शब्दों में परानुरक्ति तथा गीतोक्त परा-भक्ति कहा जाता है।

ऊपर रामचरितमानस में वर्णित शबरी के प्रसङ्ग की चर्चा कर आये हैं। वहाँ भगवान् राम इस प्रकार कहते हैं—

प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तज गान ॥
मन्त्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा ॥
छठ दम सील विरति बहु करमा।
निरत निरन्तर सज्जन धरमा ॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते सन्त अधिक कर लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहि देखइ पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना ॥

श्रीमद्भागवत में भी प्रह्लाद जी ने कहा है—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥''

अर्थात् भगवान् के नाम, स्वरूप, गुण तथा प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और भगवान् की पादसेवा, पूजन, वंदन एवं भगवान् के प्रति दास्यभाव, सखाभाव तथा आत्म-निवेदन—ये नौ प्रकार की भक्ति हैं।

सामान्य दृष्टि से देखने पर यह भक्ति बाहर-ही-बाहर की प्रतीत होती है, किन्तु गहराई से देखने पर इस का आन्तरिक स्वरूप भी उभर कर सामने आता है।

श्रवण—

प्रेमी भगवत् भक्तों द्वारा रचित शास्त्रों, पदों में वर्णित भगवान् के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्य की प्रेममयी, मधुर, उपदेशप्रद तथा अमृतदायिनी कथाओं, प्रसंगों एवं उदाहरणों के श्रद्धापूर्वक श्रवण करने को श्रवण कहते हैं। इसे सत्सङ्ग भी कहा जाता है। प्रेमी भक्त इन कथाओं को सुनते-सुनते उसी प्रकार मुग्ध हो जाता है जैसे हिरण वीणा को सुनकर। यह श्रवण का बाह्य स्वरूप है।

श्रीमद्भागवत् में भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण आसक्तियों का नाश करने वाला सत्सङ्ग झको जितना अवरुद्ध कर सकता है अर्थात् प्रेमपाश में बाँध सकता है, उतना योग, सांख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तप, त्याग, यज्ञ-कूपादि का निर्माण, दान तथा व्रत, पूजा, वेदाध्ययन. तीर्थाटन, यम-नियमों का पालन इत्यादि कुछ भी मुझे वश में करने में समर्थ नहीं है। सत्सङ्ग या महापुरुषों का सङ्ग अमोघ, अगम्य तथा दुर्लभ है। अतः भगवत् कृपा प्राप्त्यर्थ जिज्ञासुओं को उन महापुरुषों का सत्सङ्ग अवश्य ही करना चाहिए। नारद जी भी नारद-भक्तिसूत्र में कहते हैं—

तदेव साध्यताम्, तदेव साध्यताम्।

अर्थात् महापुरुषों का सङ्ग दुर्लभ, अगम्य तथा अमोघ है। इस का अर्थ यह है कि यदि कोई भक्त केवल श्रवण ही करता रहे तो धीरे-धीरे भक्ति के अन्य अङ्ग भी उसमें विकसित होने लगते हैं और वह भक्त पूर्णरूपेण नवधा भक्तियुक्त साधक बन जाता है। महापुरुषों के सङ्ग के अभाव में प्रेमी, अनुभवी भक्तों द्वारा विरचित सद्ग्रन्थावलोकन का महत्त्व भी

सत्सङ्ग के ही समान है क्यों कि साधक का मन उसी विषय पर टिका रहता है।

यह तो हुआ श्रवण का बाह्य स्वरूप। किन्तु आह्लादिनी क्रिया शक्ति जागृत होने पर साधक को इस बाह्य श्रवण, सत्सङ्ग के अतिरिक्त अन्तर श्रवण भी क्रियारूप में ही अनुभव होने लगता है। उस साधक को क्रियाओं में ही विविध प्रकार के मंत्र, उपदेश अन्तर में सुनाई देते हैं। ज्ञान, वैराग्य, योग, भक्ति तथा अन्य साधना-सम्बन्धी कविताएँ चित्त में प्रस्फुटित होने लगती हैं। कई बार साधक अपने अन्तर में ही किसी कथा-प्रसङ्ग को होता हुआ प्रत्यक्ष सुनता है। कई बार उसे ऐसा भी प्रतीत होता है कि उसके अन्दर दो महापुरुष परस्पर भगवच्चर्चा कर रहे हैं। एक प्रश्न करता है तो दूसरा उत्तर देता है और वह बीच में बैठकर या तो केवल श्रोता बनकर सुनता रहता है अथवा बीच-बीच में अपनी ओर से प्रश्न कर उठता है जिसका उत्तर भी उसे अपने अन्तर में सुनायी देता है।

बाह्य जगत् में महापुरुषों के दर्शन एवं सत्सङ्ग का लाभ तो प्रायः साधक उठाते ही हैं, किन्तु अन्तः भक्ति-शक्ति-जागृति प्राप्त साधक को अपने अन्तर में ही महापुरुष-दर्शन भी होने लगते हैं। अन्तर में प्रकट महापुरुष भक्त को उपदेश करते एवं उसकी शङ्काओं का समाधान करते हैं। कई बार साधक को अपने अन्दर से ही किसी प्रश्न का उत्तर सूझ पड़ता है अथवा किसी घटना का पूर्वाभास हो जाता है जिसे अँग्रेजी में Intution कहा जाता है। ये सभी अन्तः श्रवण के विभिन्न स्वरूप हैं जो आह्लादिनी अथवा कुण्डलिनी शक्ति की जागृति होने पर ही सम्भव होते हैं। धीरे-धीरे साधक की रुचि बाह्य

श्रवण में कम होती जाती है तथा अन्त: श्रवण में उसका प्रवेश अधिकाधिक बढ़ता जाता है। जब चित्त में श्रवण के पूर्व संचित संस्कार क्षीण हो जाते हैं, तब श्रवण की स्वाभाविक अन्त:क्रिया भी बन्द हो जाती है। उर्दू के एक कवि ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—

वो अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी,
किया दरस नुसखाए इश्क का।
कि किताब अक्ल की ताक पर,
जो धरी थी, यूँ ही धरी रही।

अर्थात् वह भी कैसा विचित्र समय था जब मैंने भक्ति की दीक्षा प्राप्त की थी जिसके परिणामस्वरूप शास्त्र मेरी बुद्धि की अलमारी में वैसा-का-वैसा रक्खा रह गया। भक्ति की दीक्षा से तात्पर्य गुरुकृपा से शक्ति का अन्तर्मुखी जागृत होकर क्रियाशीला हो जाना है जिसके फलस्वरूप वह अन्तर्मुखी कार्य आरम्भ करती है। तब धीरे-धीरे बहिर्मुखी वृत्तियाँ शान्त होकर अन्तर्मुखी स्वत:सिद्ध साधना बढ़ने लगती है। इसी क्रम में बाह्य-शास्त्रावलोकन की वृत्ति में धीरे-धीरे अरुचि उत्पन्न होती जाती है तथा साधक अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने लगता है।

आत्मन्येवात्मना तुष्ट:।—गीता २, ५५

अर्थात् तब साधक बाह्य विषयों से हटकर चित्त पर पड़ने वाले आत्मा के आनन्ददायक ज्ञान-प्रकाश में ही सन्तुष्ट रहने लगता है।

तोसों लाग्यो नेह रे प्यारे नागर नन्दकुमार।
मुरली तेरी मन हरयौ बिसरयौ घर ब्यौहार॥

जब ते श्रवननि धुनि परी, घर अँगणा न सुहाय ।
पारधि ज्यूँ चूके नहीं, भिगी बोधि दइ आय ॥

—मीराबाई

हे नन्दकुमार अर्थात् मेरे प्रियतम भगवान् ! अब तो मुझे तेरे साथ प्रेम हो गया है । तेरी मुरली की तान ने मेरा मन हर लिया है । मुरली की तान से तात्पर्य अन्तर्नाद से है । वंशी, मृदङ्ग, झाँझ, घुँघरू, घण्टे इत्यादि की जो ध्वनियाँ अन्तः में सुनाई देती हैं, उन्हें ही अन्तर्नाद संज्ञा दी जाती है । इस के प्रति मेरे मन में ऐसा प्रेम उपजा है कि घर-बार और व्यवहार सब भूल गया है अर्थात् जगत् की ओर से वैराग्य हो गया है । जब से इस अन्तर्नाद की आवाज कानों में पड़ी है, घर तथा आँगन अच्छे ही नहीं लगते । जिस प्रकार शिकारी का निशाना अचूक होता है तथा वह मृग को बींध देता है, इसी प्रकार तेरी मुरली की धुन ने मेरा हृदय बींध दिया है ।

इस प्रकार अन्तःश्रवण के आरम्भ हो जाने पर बाह्य श्रवण के प्रति प्रथम तो अरुचि होती है और बाद में वह विलीन हो जाता है ।

कीतन—

भगवान् के रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व एवं रहस्य का श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक उच्चारण अथवा गायन करना अथवा गायन होते हुए सुनना, इनसे शरीर में रोमांच, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदय की प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता, मुदता, नृत्य या शरीर में कम्प होने लगना, शरीर घूमने लगना, मेंढक की तरह फुदकने लगना इत्यादि बाह्य कीर्तन का स्वरूप है । कीर्तन सुनते-

सुनते मन में भावावेश उदय हो उठना भी कीर्तन के अन्तर्गत ही आता है।

प्रेमी भगवद्भक्तों के द्वारा कहे अथवा गाये गये भगवद्-प्रसङ्गों, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति के विषयों एवं अन्य आध्यात्मिक रहस्यों को सुनने तथा सद्शास्त्रावलोकन करने से भगवान् में श्रद्धा उत्पन्न होती है। तभी मनुष्य कीर्तन-भक्ति की ओर उन्मुख हो पाता है। भक्ति का यह अङ्ग भी ईश्वर एवं महापुरुषों की अनुकम्पा से ही मिलता है। अतः जिज्ञासु भक्तों का महापुरुषों की सेवा एवं आज्ञा-पालन कर्तव्य है। इस प्रकार केवल भगवन्नाम का जप, उच्चारण, गायन, कीर्तन करते-करते भगवद्कृपा से अनन्य भक्ति उदय होने पर भक्त भगवान् को प्राप्त होता है। इस बात का स्पष्ट संकेत भगवान् ने स्वयं गीता में इस प्रकार किया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

—गीता ९, ३०-३१

"यदि कोई अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भाव से मुझे भजता है तो उसे भी साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह व्यक्ति यथार्थ निश्चयी है अर्थात् उसने अच्छी तरह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि भगवद्भजन के सिवाय अन्य कुछ भी यथार्थ नहीं है। वह शीघ्र ही महात्मा हो जाता है एवं स्थायी परम शान्ति का लाभ उठाता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य मान कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।" जिस प्रकार प्रचण्ड वायु बादलों को छिन्न-भिन्न कर सूर्य के समक्ष

आये अन्धकार को विदीर्ण कर देता है, उसी प्रकार कीर्तित होने पर भगवान् चित्त पर पड़े संस्कारों, वासनाओं एवं क्लेशों के आवरणों को क्षीण कर भक्त के चित्त में से ही चित्त में प्रकट हो जाते हैं।

यहाँ तक तो बाह्य कीर्तन की चर्चा हुई। कीर्तन के आन्तरिक विषय में कई प्रकार की क्रियाओं का वर्णन किया जा सकता है। आह्लादिनी-जागृति के पश्चात् महत्त्वपूर्ण क्रिया अजपा-जप की है। बाह्य कीर्तन में तो भक्त को कर्तृत्वाभिमान-पूर्वक जप करना पड़ता है, किन्तु अन्तर्कीर्तन में विभिन्न स्तरों पर जप स्वयमेव होने लगता है, जैसे—स्वतः मुँह से उच्च-स्वर से मन्त्र या नाम का उच्चारण करना, मुख के अन्दर धीरे-धीरे जप का होना, होंठ हिलाये बिना जप का स्वतः होना, मन-ही-मन जप का होना अथवा मन में जप होते हुए ध्वनि श्रवण करना। इसके साथ-साथ प्रेमी भक्तों को रोमाञ्च, घूर्णा एवं कंप आदि की क्रियाएँ अनुभव में आने लगती हैं। कई साधकों को प्राणायामयुक्त जप की क्रियाएँ होती हैं। ये सभी क्रियाएँ एवं जप अन्दर के कीर्तन के ही परिणाम होते हैं।

कई साधक क्रियाओं में बैठकर अन्तःकीर्तन के क्रम में ही विभिन्न प्रकार की राग-रागिनियों एवं आलापों का गायन करते हैं। किन्हीं को भजन अथवा स्तोत्रपाठ स्वतः ही होते हैं। राग-रागिनियों के गायन की क्रिया का अनुभव करते हुए हाथों, शिर इत्यादि की चेष्टाएँ भी साथ-साथ वैसी ही होती हैं जैसी कि शास्त्रीय संगीतज्ञ करते हैं। ये सभी क्रियाएँ अपने संस्कारों के आधार पर अन्तर से प्रकट होती हैं एवं धीरे-धीरे साधक को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने में सहायक होती हैं।

कई बार कुछ लोगों को बाह्य कीर्तन में बैठने पर अश्रुपात, घूर्णा, कम्प, भस्त्रिका आदि प्राणायाम अथवा नृत्य की क्रियाएँ होने लगती हैं। ये क्रियाएँ बाह्य कीर्तन बाजा, ढोलक इत्यादि के आधार पर होती हैं। अन्तःकीर्तन का अर्थ यह है कि बाह्य अनुकूल आधार के अभाव में भी मन्त्र अथवा नाम जप, भजन-गायन, कीर्तन, अश्रुपात, घूर्णा, प्राणायाम इत्यादि क्रियाएँ स्वतः होती हों। कुछ भावुक प्रेमी भक्तों को ऐसा अवश्य होता है कि कीर्तन आदि में बाह्य अनुकूलता प्राप्त होते ही अन्तः-कीर्तन की स्वाभाविक क्रियाएँ होने लगती हैं। ऐसे भावुक साधकों को कीर्तन, मन्दिर, सत्सङ्ग इत्यादि में जाने की मनाही की जाती है।

रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात अथवा भस्त्रिका इत्यादि क्रियाएँ सामान्य दृष्टि से देखने पर भक्तिमूलक प्रतीत नहीं होतीं, किन्तु जब हृदय प्रेम-भक्ति के भाव से परिपूर्ण हो जाता है, तब ये सभी कियाएँ हृदय की उस अवस्था का बाह्य शारीरिक स्वरूप होती हैं—क्योंकि ये क्रियाएँ शरीर के आधार पर ही सम्भव हैं।

अन्तर्जप, नाम-कीर्तन, नामधुन, राग-रागिनियाँ आलाप, अश्रुपात, भस्त्रिकादि प्राणायाम सभी आन्तरिक चेतन शक्ति द्वारा चित्त में सञ्चित संस्कारों के आधार पर घटित होते हैं। उसी शक्ति को मन्त्र-शक्ति भी कहा जाता है। अर्थात् मन्त्र अक्षर-समूह न होकर वास्तव में उसके अन्दर छिपा हुआ चैतन्य अथवा देवत्व होता है। ये क्रियाएँ उसी चैतन्य की होती हैं। भाव यह है कि अक्षर-समूह का प्रयत्नपूर्वक कीर्तन वास्त-विक कीर्तन नहीं होता, अपितु मन्त्रशक्ति का अन्तर्मुखी

जागृत होकर चित्त के आधार पर स्वाभाविक क्रियाएँ करना ही वास्तविक अन्तःकीर्तन होता है।

स्मरण--

भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य की कल्याणकारी तथा अमृतमयी कथाओं, प्रसङ्गों, उदाहरणों एवं उपदेशों का जो श्रद्धा, प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन करते हैं, उनका इस प्रकार मनन करते-करते देह-ज्ञान का विस्मरण होकर भगवान् के स्वरूप में तल्लीन हो जाना, खाते, पीते, उठते, जागते चित्त में भगवान् का स्मरण बने रहना तथा प्रत्येक कार्य भगवान् का समझकर करना स्मरण-भक्ति का स्वरूप है।

यथासम्भव शान्त एवं पवित्र स्थान में सुखपूर्वक स्थिर आसन में बैठकर, इन्द्रियों को जगत् के विषयों से हटाकर, कामना और सङ्कल्प से वैराग्ययुक्त होकर अथवा व्यवहार करते समय स्वाभाविक शुद्ध एवं सरल भाव से सगुण अथवा निर्गुण परमात्मा के तत्त्व को जानकर भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना, भगवान् के नाम का स्मरण करना, भगवान् की लीलाओं का स्मरण कर मुग्ध होना, भगवान् के तत्त्व और रहस्य को जानने के लिए उनके गुण तथा प्रभाव का चिन्तन करना, स्तोत्रपाठ, कविता-पाठ, भजन और शास्त्रावलोकन से मन के द्वारा भगवान् की स्तुति एवं प्रार्थना करना,—ये सब कर्तृत्वाभिमानयुक्त बाह्य स्मरण-भक्ति के विभिन्न स्वरूप हैं।

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिमामेवैष्यस्यसंशयम्॥

अभ्यास योगयुक्तेन चेतसानान्य गामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन ॥ —७, ८

इसलिए, हे अर्जुन ! तू सब समय मेरा स्मरण कर और साथ-साथ युद्ध कर। इस प्रकार मुझ में अर्पण किये हुए मन, बुद्धि से युक्त हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है। हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यासरूप योग से युक्त अन्य विषय पर न जाने वाले चित्त से नित्य, निरन्तर चिन्तन करता हुआ परम प्रकाश-स्वरूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। यही वाह्य स्मरण भक्ति का स्वरूप है--

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य युक्तस्य योगिनः ॥—८,१४

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझ में दत्तचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम का स्मरण करता है, उस नित्य, निरन्तर मुझ में युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त होता हूँ।

कबीर ने अपनी वाणी में स्मरण का महत्व इन शब्दों में व्यक्त किया है—

तू तो राम सुमर जग लड़वा दे ।
कोरा कागद काली स्याही, लिखत-पढ़त वा को पढ़वा दे ।।
हाथी चलत है अपनी गत में, कुतर भुकत वा को भुकवा दे ।
कहत कबीर सुनो भई साधो, नाक पचत वा को पचवा दे ।।

हे जीव ! जगत् में जो लोग अनावश्यक वाद-विवाद एवं लड़ाई-झगड़ों में पड़े रहते हैं, तू उन्हें लड़ने दे, स्वयं तो तू राम-नाम का स्मरण कर। कोरे कागज तथा काली स्याही का

संयोग कर जो लोग पढ़ने-लिखने में रुचि रखते हैं, उन्हें तू लिखने-पढ़ने दे, तू तो राम-स्मरण में अपना मन लगा। कबीर जी कहते हैं कि जो लोग अपने को नरक में डालना चाहते हैं, उन्हें तू ऐसा करने दे, तू तो बस राम नाम के स्मरण में अपना मन लगा।

एक अन्य स्थान पर कबीर कहते हैं—

जो जन लेहि खसम का नाऊँ, तिन के सद बलिहारे जाऊँ।
जो गुरु के निर्मल गुन गावे, सो भाई मेरे मन भावे ।।

जो अपने प्रियतम, पति परमेश्वर का नाम स्मरण करते हैं, मैं उनके सौ बार बलिहारी जाता हूँ। जो लोग अपने गुरु के निर्मल गुणों का गान करते हैं, वे मेरे मन को बहुत अच्छे लगते हैं।

अब सूरदास जी को भी देखिए—

जो तू रामनाम चित धरतौ।
अब को जन्म आगिलो तेरो दोऊ जन्म सुधरतौ ।।
जम को त्रास सबै मिटि जातौ, भक्त नाम तेरो परतौ ।।

और सहजोबाई के उद्गार भी देखिए—

हमरे औषध नाँव धनी का।
आध-व्याध तन-मन की खोवै, सुद्ध करे वह नीका ।।
अमर भये जिन-जिन यह खाई, भव नगरी नहिं आये।
जो पछ करैं सँभल दृढ़ राखैं, सतगुरु वैद बताये ।।

हमारे पति परमेश्वर का नाम औषध का कार्य करता है जिसके खाने से तन एवं मन की अशुद्धि दूर होकर वे शुद्ध हो जाते हैं। जिन्होंने इस का सेवन किया है, वे अमर हो गये तथा उनके इस भव-नगरी में आने का कोई कारण शेष नहीं रहा।

इस रामनाम रूपी औषध के सेवन का उपाय सद्गुरु रूपी वैद्य के बतलाये अनुसार ही होना चाहिए। जो भक्त पथ्याहार करता है अर्थात् रामनाम का तो सेवन करता है एवं अपने मन को नियन्त्रण में रख कर जगत् के विषयों की ओर नहीं जाने देता, उसी का कल्याण होता है।

यहाँ तक भक्त के कर्तृत्वाभिमानयुक्त स्मरण का वर्णन किया गया है। यदि ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त गीता के श्लोकों में भक्त की सहज और स्वाभाविक स्मरण-शक्ति का संकेत मिलता है। वास्तव में स्मरण की अवस्था प्राप्त करने के लिए जप साधन रूप होता है। जप का निरन्तर, प्रतिक्षण चलते रहना असम्भव है जबकि स्मरण की अवस्था प्रति पल, प्रति क्षण निरन्तर बनी रह सकती है। इसीलिए स्मरण की अवस्था प्राप्त करने के लिए ही जपानुष्ठान का विधान है।

हम पूर्व में कह ही आये हैं कि वास्तविक जप अक्षर-समूह का बार-बार उच्चारण करना नहीं है, अपितु मन्त्र-शक्ति का अपने चित्त में जागृत एवं कार्यशीला होना है। शक्ति की यह कार्यशीलता सम्पादित होने के पश्चात् चित्त में निरन्तर बनी रह सकती है तथा इसके साथ ही स्मरण की तारतम्यता भी स्थायी हो जाती है। उन्नत साधक अपने चित्त में प्रकाशित एवं कार्यशीला शक्ति को ही जगत् में सर्वत्र विद्यमान एवं कार्यरत देखता है तथा प्रत्येक घटना-क्रम में उस चैतन्य सत्ता को ही कारण समझता और मानता है। तब उस भक्त को भगवान् का निरन्तर स्मरण बने रहना सहज हो जाता है। स्मरण की इस निरन्तर बने रहने वाली अवस्था को प्राप्त करने के लिए चित्त में आह्लादिनी शक्ति का अन्तर्मुखी जागृत होना परमावश्यक है जिस के लिए पठन-पाठन, जपानुष्ठान इत्यादि विविध

साधनों अथवा गुरु-कृपा का अवलम्बन लिया जाता है। कबीर साहब ने अपनी वाणी में कहा है—

सुमिरन सों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्राण तजे छिन एक में, जग्त न मोड़े अङ्ग ॥
सुमिरन सों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसरि आप को, होय जाय तेहि रङ्ग ॥

कबीर जी चित्त की ऐसी स्थिति प्राप्त करने का स्पष्ट निर्देश देते हैं जिससे मन में प्रभु के प्रति स्मरण का भाव नित्य-निरन्तर बना रहता है। सब कार्य करते हुए भी जैसे कछुआ अण्डों का, गौ बछड़े का, कामी पुरुष स्त्री का, लोभी अपने धन का, नटी अपने चरणों का, साइकिल चलाने वाला हैण्डिल का स्वभावतः ही ध्यान रखता है, इसी प्रकार भक्त को अपना चित्त भगवान् में लगाये रखने के स्वाभाविक ध्यान का विकास करना चाहिए।

मीराबाई इस विषय को अधिक समझा कर कहती हैं—

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु
किरपा कर अपनायो ॥

अर्थात् मैंने अपने सद्गुरु महाराज की महान् अनुकम्पा के फलस्वरूप नाम का धन पाया है, क्योंकि यह धन तो रत्नों से भी अधिक मूल्यवान् है।

तात्पर्य यह है कि जब गुरु मन्त्र देते हैं, तब वे केवल कान में फूंक नहीं मार देते; वरन् वे कोई अमूल्य पदार्थ देते हैं और वह है मन्त्र के माध्यम से मन्त्र-शक्ति। वही मन्त्र-शक्ति चित्त में जागृत होकर क्रियाशीला हो जाती है। यदि साधक अपने

अन्तर में लक्ष्य बनाकर रखता है तो उस ईश्वरीय शक्ति की क्रियाशीलता निरन्तर बनी रहती है। आगे चलकर इसी पद के अन्तर्गत मीराबाई लिखती हैं—

"दिन-दिन बढ़त सवायो।"

अर्थात् इस निरन्तर क्रियाशीलता एवं स्मरण का ह्रास होने का कोई प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। इसके विपरीत यह नित्य बढ़ता ही रहता है अर्थात् स्मरण की प्रगाढ़ अवस्था साधक को प्राप्त होती जाती है। जब अपने अन्तर में क्रियाशीलता पर लक्ष्य रखते हुए साधक उसी चैतन्य (ईश्वरीय शक्ति) की विद्यमानता जगत् में सर्वत्र अनुभव करता है, तब साधक अन्तर्लक्ष्य एवं बहिर्लक्ष्य दोनों अवस्थाओं में ईश्वरीय शक्ति को अपने सन्मुख अनुभव एवं स्मरण करता है।

स्मरण भक्ति का अति उच्च अङ्ग है। शक्ति जैसे-जैसे आत्माभिमुखी अग्रसर होती जाती है, तदनुसार साधक शक्ति को शक्ति के द्वारा ही देखता है। शक्ति को शक्ति के द्वारा ही स्पर्श करता है। शक्ति को शक्ति के द्वारा ही सूँघता है। शक्ति को शक्ति के द्वारा ही सुनता है। साधक की प्रत्येक क्रिया शक्ति की ही क्रिया हो जाती है। साधक का कर्तृत्वाभिमान गलित होते-होते पूर्णतया विलीन हो जाता है। उसका ईश्वर से स्वतन्त्र अलग अस्तित्व समाप्त होकर अद्वैत-अनुभव का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

'विशते तदन्तरम्।'—गीता १८,५५

तब प्रेमी भक्त ईश्वर में प्रवेश कर जाता है। ऐसा है कल्याणकारी शुभ परिणाम इस स्वतःसिद्ध आन्तरिक स्मरण-भक्ति का!

पादसेवन—

श्री भगवान् के किसी भी दिव्य एवं मङ्गलमय धातु, पाषाण-प्रतिमा, चित्र अथवा मानस-प्रतिमा के मनोहारी चरणों का प्रेम तथा आदरपूर्वक दर्शन, ध्यान, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते प्रभु-प्रेम में भाव-विभोर और तन्मय हो जाना ही पाद-सेवन कहलाता है।

साधन-मार्ग में गुरुचरणों अथवा भगवच्चरणों का पूजन, ध्यान, चिन्तन इत्यादि का विशेष महत्त्व है। मनुष्य जैसे-जैसे चलता है, चरणों के द्वारा धूलि को भूमि से उठाता है और छोड़ता जाता है। चरणरज इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि चरण पृथ्वी को स्पर्श करते हैं जिससे गुरु-शरीर की जागृत शक्ति चरणधूलि को शक्तियुक्त कर देती है। वही चरणरज आँखों अथवा मस्तक पर लगाने से रज के संयोग में आयी हुई शक्ति साधक के शरीर में अपना प्रभाव डालती है। आध्यात्मिक दृष्टि से जब गुरु की जागृत चित्त शक्ति आगे प्रसारित होकर शिष्य की चित्त शक्ति के तादात्म्य में आती है तो वहाँ चरण-रज की तरह पुनः लौटने से पहले कुछ छोड़ जाती है जिसका स्वरूप शिष्य के चित्त की अन्तर्मुखी जागृति के विकास में सहायक होता है। इसी की भक्तिमार्ग की भाषा में श्री गुरुदेव की चरणरज का प्रसाद कहा जाता है। ऐसे चरणों का ध्यान, वन्दन, चिन्तन, पूजन आदर-प्रेमपूर्वक करते रहना साधन-मार्ग में उन्नति के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है। इसीलिए सन्त तुलसीदास गुरु की वन्दना करते हुए रामचरित में कहते हैं—

श्री गुरुचरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधारि।
बरणों रघुवर विमल यश, जो दायक फल चारि॥

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर—

बन्दौ गुरुपद पद्म परागा, सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू, समन सकल भवरुज परिवारू।
सुकृत शम्भु तन विमल विभूति, मंगल मंजुल मोद प्रसूति।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी, किए तिलक गुन-गन बस करनी।

ऐसी है गुरु-चरण तथा उनके रज की महिमा !

चरण मनुष्य-शरीर का निम्नतम अङ्ग है। उसमें भी चरण-रज और भी नीचे है। चरणरज के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव प्रदर्शित कर साधक अपने में नम्रभाव का विकास एवं अहंभाव के ह्रास का मार्ग प्रशस्त करता है। भक्त जब भगवान् को मनुष्य-शरीर में देखता है तो उसके निम्नतम अङ्ग की वन्दना कर उसके सारे शरीर की पूजा का फल प्राप्त करता है।

इस प्रकार बाह्य पादसेवन के पश्चात् अब आन्तरिक पाद-सेवन की चर्चा करते हैं। यह ऊपर कहा जा चुका है कि गुरु-चरणरज के प्रताप से जब शिष्य की अन्तर्शक्ति आह्लादिनी को अन्तर्मुखी जागृति एवं क्रियाशीलता अनुभव होती है तो साधक का चित्त शुद्ध होना आरम्भ हो जाता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वास्तव में गुरु का शरीर गुरु नहीं होता, अपितु गुरु के चित्त में जागृत ईश्वरतत्व ही गुरु होता है। जब गुरु के चित्त में जागृत ईश्वरीय शक्ति में शिष्य के प्रति कल्याण का भाव उदय होता है, तब चित्तशक्ति प्रसारित होकर शिष्य के चित्त के तादात्म्य में आती तथा वहाँ अपना प्रभाव छोड़कर वापस आ जाती है। इस आध्यात्मिक चरणरज अर्थात् गुरु की चित्तशक्ति की कृपा के फलस्वरूप शिष्य की चित्तशक्ति की अन्तर्मुखी जागृति होती है जिसका

वह भरपूर लाभ उठाता है, उसके प्रति समर्पित होता है, उसे कार्य करने का अवसर प्रदान करता है, उसके प्रति श्रद्धा तथा आदरभाव रखता है। इधर गुरुशक्ति अथवा मंत्रशक्ति भी शिष्य का अधिकाधिक कल्याण करने में समर्थ होती है। जिस प्रकार मैले कपड़े को साबुन लगाकर, कूट कर उसका मैल निकाला जाता है तथा वस्त्र स्वच्छ, निर्मल होता है, उसी प्रकार शक्ति भी क्रियाओं का साबुन लगाकर चित्त के अन्दर सञ्चित संस्कारों, विकारों एवं आवरणों को क्षीण कर चित्त को शुद्ध करती है। यही आन्तरिक पादसेवन है। इसीलिए गुरु, मंत्र-शक्ति, आत्मा, परमात्मा में अभेद का उपदेश किया जाता है।

अर्चन—

अर्चन कई प्रकार से होता है।

१—प्रेमी भक्तों के मुख से सुने हुए, शास्त्रों में पठन किये हुए, धातु अथवा पाषाण मूर्त्ति अथवा चित्रपट के रूप में देखे हुए भगवान् के किसी विशेष स्वरूप का, जिस पर साधक की स्वाभाविक श्रद्धा हो, बाह्य पूजा-सामग्रियों से पूजन।

२—अपने अभिलषित तथा श्रद्धेय, आदरणीय भगवान् के किसी स्वरूप-विशेष की मानसिक प्रतिमा का मानसिक साम-ग्रियों से पूजन करना।

३—सब भूतों में परमात्मा को व्यापक समझकर सब का आदर-सत्कार करते हुए यथायोग्य विविध उपायों से आदरपूर्वक सेवन, पूजन करना।

४—ईश्वर के तत्त्व, रहस्य तथा प्रभाव को चिन्तन, मनन एवं पठन-पाठन के द्वारा समझ-समझा कर उसके प्रेमभाव में मुग्ध हो जाना बाह्य अर्चनभक्ति का स्वरूप है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवाः ॥

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है तथा जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि अर्थात् परमेश्वर के स्वरूप को प्राप्त होता है। यह कर्मयोगिओं की पूजा है। कर्मयोगी अपने स्वाभाविक कर्म भगवान् की पूजा अथवा सेवा मानकर करता है। स्वाभाविक कर्म का अर्थ है अपने बुद्धि विवेक के अनुसार जो कर्म उसका कर्तव्य होता है, उसे वह भगवान् की सेवा मानकर करता है। इसे भावनात्मक कर्ममूलक बाह्य अर्चन कहा जाता है।

आन्तर अर्चना में कर्तृत्वाभिमान के स्थान पर अर्चनभाव स्वाभाविक हो जाता है। तब भक्त को कर्तृत्वाभिमान युक्त होकर अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं रहती।

१—साधन में आह्लादिनी शक्ति चित्त में सञ्चित संस्कारों के अनुरूप किसी देवता विशेष का रूप धारण कर साधक के चित्त में प्रकट होती है तो साधक भाव-विभोर हो कर क्रियाओं में स्वतः अपने अन्तर्मुख दृश्य (भगवान् के स्वरूप) की पूजा-अर्चना करने लगता है। भगवान् के उस स्वरूप की प्रशंसा में अनेकों स्तोत्र मुख से निकलते हैं। जो शक्ति भगवान् का स्वरूप धारण कर चित्त में प्रकट होती है, वही शक्ति विविध प्रकार की क्रियाओं के रूप में अन्तर में विकसित होती है एवं वही शक्ति अर्चा भी करती है। साधक इन्हें मात्र दृष्टा भाव से देखता रहता है।

२—मानसिक पूजा में भगवान् भी मानसिक (काल्पनिक) होते हैं और सामग्री तथा पूजा भी मानसिक होती है। चाहे

बाह्य पूजा की जाय अथवा मानसिक, उसके संस्कार चित्त में सञ्चित होने में कोई अन्तर नहीं आता। बाह्य भौतिक पूजा में भगवान् मानसिक, काल्पनिक न होकर पाषाण और धातुओं की प्रतिमा में अवस्थित होते हैं और पूजा-सामग्री भी मानसिक न होकर भौतिक होती है। इन दोनों अर्चनाओं के संस्कार सञ्चित तथा आह्लादिनी शक्ति की क्रियाओं के रूप में परिणित होने पर प्रतिमा अथवा मानसिक भगवान् के स्थान पर आह्लादिनी शक्ति चित्त में क्रिया के रूप में दृश्यमान् होती है। पूजा-सामग्री भी भौतिक या मानसिक न होकर शक्ति की क्रियारूप ही होती है तथा पूजा-अर्चना उसी क्रिया के स्वाभाविक आवेश में साधक के अन्तर में अपने आप घटित होती है। इसे स्वाभाविक अन्तः अर्चन कहा जाता है।

३—सर्व भूतों में परमात्मा को देखना, उनका आदर-सत्कार तथा उनके साथ सद्व्यवहार करना, किसी को क्लेश या दुःख न पहुँचाना—यह ज्ञान-मार्ग का बाह्य अर्चन है। स्वाभाविक ज्ञानमार्गीय आन्तरिक अर्चना की स्थिति तब आती है जब साधक में जागृत एवं कार्यशीला आह्लादिनी शक्ति साधक के समक्ष प्रथम निज का आत्मतत्त्व प्रकाशित करती है एवं तत्पश्चात् बाह्य जगत् में भी सभी प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व को दर्शाती है। यह बात केवल समझने या मानने की नहीं, अपितु प्रत्यक्ष देखने की है। जब साधक के समक्ष अन्य प्राणियों के शरीर गौण तथा उनमें स्थित आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है, तब साधक यह अनुभव करता है कि सभी प्राणी उसके अपने ही स्वरूप हैं। जो आत्मतत्व उस में प्रकाशित है, उसी के कारण अन्य प्राणी भी जीवनधारण किये हुए हैं। उपनिषद् भी कहता है—

अग्निः यथैको भुवनः प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एको वशी सर्व-भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

साधक इस स्थिति को अपनी बुद्धि से समझता ही नहीं, अपितु अनुभव भी करता है कि जगत् में एक ही अग्नि अथवा प्राण सर्वत्र फैला है। उसके अन्दर भी वही स्थिति है, अन्य प्राणियों में भी वही हर प्राणी के रूप के अनुरूप अवस्थित है और बाहर जगत् में भी एक ही प्राण है। तब साधक के व्यवहार में स्वभावतः ही एक अलौकिक एवं मधुर परिवर्तन आ जाता है। इसे ज्ञानमार्गीय आन्तरिक स्वाभाविक अर्चन कहा जाता है।

कर्मयोगी कर्म को भगवान् की सेवा मानकर कर्म द्वारा बाह्य अर्चना का अभ्यास करता है। यह अभ्यास भावनात्मक अथवा विचारात्मक स्तर पर ही होता है। इस बाह्य अर्चना के कर्मयोगी साधक के समक्ष भगवान् कल्पना का विषय होता है। वह अपनी इन्द्रियों की शक्ति को अपनी शक्ति मानता-समझता है, ईश्वरीय शक्ति नहीं। मुँह से तो कहता है—'सब भगवान् का है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ'—किन्तु उसके अन्दर कर्मों के प्रति अभिमान का भाव भरा होता है। वह अपनी प्रशंसा सुन कर आनन्दित होता है तथा निन्दा सुन कर विक्षिप्त, क्रोधित हो उठता है। किन्तु जब शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत हो उठती है तथा साधक उन्नत अवस्था प्राप्त कर लेता है, तो शक्ति उसके संस्कारों-विकारों को नष्ट करती जाती है। वह उस शक्ति के द्वारा ही जगत् के सभी कार्य घटित होते हुए प्रत्यक्ष अनुभव करता है। तब न तो ईश्वर काल्पनिक रहता है, न ही साधक इन्द्रियों की शक्ति को अपनी मानता है और न कर्मों के प्रति आसक्त ही होता है। तब वह जगत् के सभी कर्मों को

ईश्वरीय शक्ति के द्वारा, ईश्वर के लिए ही सम्पादित होते हुए अनुभव करता है जिनमें उस का शरीर निमित्त मात्र होता है। यह कर्मयोग की स्वाभाविक पूजा-अर्चा कही जाती है।

वन्दन—

वन्दन भी कई प्रकार के होते हैं—

१—धातु, पाषाण अथवा काष्ठ आदि भौतिक पदार्थों से निर्मित भगवान् अथवा गुरु की प्रतिमा को भौतिक देह से प्रणाम करना एवं नतमस्तक होकर उसके समक्ष प्रार्थना करना—'हे प्रभो ! मुझे जगत् के विषयों से छुड़ाओ। मैं न चाहते हुए भी इन में उलझता-फँसता जाता हूँ। सुखी-दुःखी होता हूँ, किन्तु फिर भी विषयों तथा जगत् के सुखभोगों से विरक्त नहीं हो पाता। मेरे चित्त में न तो वैराग्य ही है और न ही तुम्हारे प्रति कोई प्रेम ! ऐसी स्थिति में मेरे चित्त पर जगत् का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। मुझे जगत् से छुड़ाओ'—इत्यादि। यह बाह्य भौतिक वन्दन का स्वरूप है।

२—भगवान् के किसी स्वरूप अथवा गुरु की मानसिक प्रतिमा बनाकर उस के समक्ष मानसिक प्रणाम अथवा प्रार्थना करना।

३—जगत् के प्राणी मात्र को परमात्मा का रूप समझकर श्रद्धापूर्वक शरीर अथवा मन से नतमस्तक होकर प्रणाम करना तथा ऐसा करते हुए भगवद्प्रेम में मुग्ध हो जाना वन्दना भक्ति कही जाती है। यह तीसरी भक्ति ज्ञान-मार्गियों की होती है।

गीता के ग्यारहवें अध्याय में विराट् रूप दिखाने पर अर्जुन भगवान् की वन्दना इस प्रकार करते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठ तस्ते,
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्त वीर्यामित विक्रमस्त्वं,
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०

हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिए आगे से और पीछे से भी नमस्कार है । हे सर्वात्मन् ! आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार है । क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इस से आप ही सर्वरूप हैं ।

तुलसीदासजी को जब उच्च आध्यात्मिक भूमिका प्राप्त हुई तथा उन्होंने इस सारे जगत् में सिया-राम को ही सर्वत्र फैले हुए देखा तो उनका मस्तक जगत् के प्रति श्रद्धा से झुक गया । इस भक्त महाकवि के उद्गार देखिये—

रघुवर तुम को मेरी लाज ।
सदा सदा मैं सरन तिहारी, तुमहि गरीब नवाज ।।
पतित उधारन विरद तिहारो, स्रवनन सुनि आवाज ।
हौं तो पतित परातन कहिए, पार उतारो जहाज ।।
अघ-खण्डन दुख-भञ्जन जनके, यही तिहारो काज ।
तुलसीदास पर किरपा कीजै, भगति दान देहु आज ।।

आत्मिक आह्लादिनी शक्ति की जागृति होने पर उपरोक्त तीनों प्रकार की वन्दना बाह्य से आभ्यन्तरिक हो जाती है । तब भगवती भक्ति-शक्ति की क्रियाओं में वन्दना के सभी स्वरूप अपने अन्तः में स्वतः ही प्रकट होने लगते हैं ।

१—भौतिक पाषाण आदि की प्रतिमा को नमस्कार, उस की प्रार्थना करने के स्थान पर प्रेमीभक्त के अन्दर ही भगवान् अथवा गुरु का कोई स्वरूप उदय हो जाता है तथा आह्लादिनी

शक्ति की क्रियाओं में ही स्वयमेव ऐसी क्रियाएँ घटित या प्रकट होती जाती हैं कि साधक अन्तर में प्रकट प्रतिमा के प्रति प्रणामरत हो जाता है। उसका चित्त भगवत्-प्रेम एवं आनन्द से भर उठता है। वह भाँति-भाँति के भजन गाकर एवं स्तोत्र पाठ करता हुआ भगवान् से अनेकों प्रार्थनाएँ करता है। ये सब क्रियाएँ आह्लादिनी शक्ति के द्वारा भक्त के अन्दर ही घटित होती हैं।

२—बाह्य भौतिक वन्दना की अपेक्षा मानसिक वन्दना आन्तरिक है, किन्तु आह्लादिनी शक्ति द्वारा सम्पादित की अपेक्षा बाह्य है, क्योंकि मानसिक वन्दना में भी कर्तापन का भाव बना रहता है तथा उसके संस्कार सञ्चित होते हैं, जबकि क्रियारूपी वन्दना कर्तृत्वाभिमान रहित स्वतः घटित होती है तथा संस्कार-सञ्चय के बजाय कर्तृत्वाभिमान वन्दना के पूर्व संस्कारों को क्षीण करती है। आह्लादिनी शक्ति की आन्तरिक क्रियाओं में प्रेमी भक्त का हृदय स्वभावतः ही गद्गद् हो उठता है। प्रभु के वियोग में उसका हृदय तड़पता है। भगवान् के समक्ष अनुनय-विनय एवं वन्दना करते हुए वह रोता, गाता, भूमि पर लोट-पोट होता एवं अश्रुपात करता है। कभी मस्ती में आकर नाचने भी लगता है एवं बार-बार अन्तर में प्रकट भगवान् को प्रणाम करता है।

३—आह्लादिनी शक्ति की क्रियाओं द्वारा जब साधक के चित्त में सञ्चित संस्कार बहुत कुछ क्षीण हो जाते हैं, तब शक्ति का अनुभव एवं सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो जाता है। आगे चल कर वह उसी शक्ति को प्राणिमात्र में विराजमान देखता है। तब प्राणियों के प्रति उसका भाव, दृष्टिकोण एवं व्यवहार बदल जाता है। वह जगत् के कण-कण में ईश्वरीय शक्ति को ओत-

प्रोत अनुभव करता है। इस स्थिति का वर्णन उर्दू के एक कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है—

जिसे देखना ही मुहाल था,
न था जिसका नामोनिशाँ कहीं।
सो हर एक जर्रे में इश्क ने,
मुझे उसका जलवा दिखा दिया॥

अर्थात् जिस भगवान् को देखना अत्यन्त कठिन था तथा जिसके नाम और ठिकाने का कहीं पता नहीं था, आन्तरिक अर्थात् आह्लादिनी भक्ति ने अन्तर्मुखी जागृत होकर जगत् के कण-कण में उसके दर्शन करवा दिये। बस, फिर तो प्रेमी एवं ज्ञानी भक्त के जगत् के प्रति भाव, दृष्टिकोण एवं विचार बदल गये। वह किस से घृणा और द्वेष करे, किसको अपना या पराया अथवा मित्र या शत्रु समझे? सारा जगत् तो उसे उस के प्रभु का ही स्वरूप दिखायी देता है। वह प्रेम और श्रद्धा से जगत् का वन्दन करता है। कैसी अलौकिक सिद्धि है कि तब जगत् नामरूपात्मक नहीं दिखायी देता, वरन् उस का आधार-भूत नित्य तत्व चैतन्य ही सर्वत्र दिखायी देता है।

भगवान् अथवा गुरु में अनन्य प्रेम का भाव प्रकट हो कर भगवान् को प्राप्त करना ही वन्दना भक्ति का महान् उद्देश्य है। भगवत्प्रिय प्रेमी भक्तों का सङ्ग और अपने गुरुदेव की सेवा, गुरुप्रदत्त साधना का अधिकाधिक विकास करने से भगवान् का रहस्य, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप समझने से इस वन्दना भक्ति की प्राप्ति होती है।

दास्यभाव—

भगवान्, गुरु, माता-पिता, पति अथवा जिस किसी भी अन्य में भगवान् की भावना हो जाय, श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक

उनकी सेवा करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना दास्य भक्ति का बाह्य भौतिक स्वरूप है। जब तक भगवान् की अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक वे मानसिक कल्पना तथा श्रद्धा का विषय रहते हैं। तब तक काल्पनिक भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास से समर्पित रहना, उनकी इच्छा तथा आज्ञा को स्वविवेक के माध्यम से कर्त्तव्य समझकर पालन करना तथा अनुकूल अथवा प्रतिकूल जैसी भी परिस्थित में वे रखते हैं, उसी में प्रसन्न रहना बाह्य दास्य भाव कहलाता है।

गुरु, माता-पिता, पति अथवा जिस किसी भी अन्य में भक्त भगवान् के प्रतीक की भावना करता है, उसके प्रति स्वामी की भावना रखते हुए अपना परिवार, सम्पत्ति, यश, अपयश सभी कुछ उसी का मानते हुए कर्त्तव्य-बुद्धि से उसकी सेवा करना तथा उसकी आज्ञा का पालन करना बाह्य दास्य भक्ति है।

मीराबाई इसी दास्य-भाव को स्वीकार करती हैं—

स्याम ! मने चाकर राखो जी।
गिरधारी ! चाकर राखो जी॥
चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ, नित उठ दरसण पासूँ।
विन्द्रावन की कुंज गलिन में तेरी लीला गासूँ॥
चाकरी में दरसण पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाताँ सरसी॥

अर्थात् हे प्रभु श्यामसुन्दर ! मैं आपकी नौकर बनने के तो अयोग्य हूँ, अतः मुझे आप अपने नौकरों का नौकर अर्थात् चाकर ही रख लीजिये। मैं चाकर रह कर बगीचा लगाऊँगी जिससे आपके नौकर अर्थात् भक्त उस बगीचे में से पुष्प लेकर आपकी पूजा किया करेंगे। मैं आपके भक्तों को आपकी पूजा

करते हुए देखूँगी, आपके दर्शन पाऊँगी तथा वृन्दावन की कुञ्ज गलियों में तुम्हारी लीला, गुण और रहस्यों को गाती फिरूँगी। हे प्रभो ! चाकरी के फलस्वरूप तो मैं आपका दर्शन पाऊँगी, खर्चे के रूप में तुम्हारा नाम स्मरण करूँगी तथा जागीर रूप में तुम्हारी भाव-भक्ति अपने चित्त में विकसित करूँगी। इससे मुझे दर्शन, स्मरण एवं भक्ति—तीनों बातें प्राप्त हो जायेंगी।

आन्तरिक सूक्ष्म दास्य भक्ति आह्लादिनी के अन्तर्मुखी जागृत, प्रकाशित एवं क्रियाशीला होने पर उपलब्ध होती है। ईश्वरीय भक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर ईश्वर कल्पना, भावना, श्रद्धा अथवा विचार मात्र का ही विषय नहीं रह जाता, अन्तर में अनुभवगम्य हो जाता है। तब समर्पण का आधार भी मानसिक काल्पनिक न हो कर यथार्थ अनुभवयुक्त हो जाता है। भक्ति की इसी अनुभवयुक्त स्थिति को योगदर्शन में ईश्वर-प्रणिधान कहा है। अन्तर में जागृत ईश्वरीय शक्ति के प्रति समर्पणभावयुक्त साधक जहाँ एक ओर उसे कार्य करने का अवसर प्रदान करता है, वहीं शक्ति के द्वारा निर्दिष्ट सभी आज्ञाओं का कर्त्तव्यबुद्धि से पालन भी करता है जो उसे साधन में प्राप्त होती हैं। जगत् में भी सर्वप्रथम अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति, क्षमता, योग्यता, समय, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक बल इत्यादि को दृष्टि में रखते हुए बुद्धि के विवेकपूर्ण निर्णय को अपना धर्म मानता है एवं उस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ होता है। अपना घर-परिवार, सम्पत्ति इत्यादि सब भगवान् का मान कर उन की सेवा करता है। उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना, परिवार का पालन करना, खेती-व्यापार करना आदि सब कार्य भगवान् की सेवा मानकर ही करता है। जब तक हृदय में ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो जाती कि सब

कुछ ईश्वर का ही है, तब तक इस आन्तरिक भाव की बाह्य छटा भी उपलब्ध नहीं होती।

सख्यभाव—

भगवान्, गुरु अथवा अन्य कोई भी जिसके प्रभाव, तत्व, रहस्य या महिमा को समझकर अत्यन्त विश्वासपूर्वक मित्र-भाव से उन की रुचि के अनुरूप बन जाना, उनके अनन्य प्रेम में विभोर हो कर मुग्ध हो जाना तथा नित्य निरन्तर प्रसन्न रहना सख्य-भाव की भक्ति है। सांसारिक दृष्टि से बाह्य जगत् में राम-सुग्रीव तथा कृष्ण और सुदामा के उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं जिनमें सखा भाव स्पष्ट होता है। हमारा मुख्य उद्देश्य आह्लादिनी शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति होने पर सख्य भाव की भक्ति को दर्शाना है। जागृत होने पर शक्ति प्रथम स्वामी, गुरु अथवा माता के रूप में अनुभव होती है जो क्रियाओं के माध्यम से चित्त-शुद्धि का कार्य सम्पादित करती है। साधक के गिरने की सम्भावना होने पर माता की तरह रक्षा करती है जिसे साधक अनुभव करता है। कुछ साधक आन्तरिक जागृत शक्ति के प्रति गुरु का भाव रखते हैं और कुछ स्वामी का। किन्तु जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि का क्रम आगे बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे शक्ति के प्रति साधक का भाव परिवर्तित होने लगता है। आत्मा की चैतन्य शक्ति चित्त पर प्रतिबिम्बित होने के कारण ही चित्त में जीवभाव उत्पन्न होता है और वही शक्ति चित्त के संस्कारों की शुद्धि भी करती है। तब शुद्ध होने के कारण चित्त में स्थित शुद्ध चैतन्य के प्रति उस के चित्त में मित्र अथवा सख्य भाव की उत्पत्ति होती है। यही सख्य भाव की भक्ति का आन्तरिक स्वरूप है।

आत्म-निवेदन—

आत्म-निवेदन का अर्थ है भगवान्, गुरु अथवा अन्य किसी

उपास्य सत्ता के प्रति समर्पित हो जाना। यह साधना का सर्वोच्च अङ्ग है एवं शेष प्रायः सभी अङ्गों का इसी एक अङ्ग में समावेश है। भगवान् के तत्त्व, प्रभाव, महिमा तथा रहस्य समझकर, आसक्ति तथा अहङ्कार रहित होकर, तन-मन-धन सहित स्वयं को तथा अपने सम्पूर्ण क्रियाकलापों को आदर तथा सत्कार सहित परमात्मा या गुरु को समर्पण कर देना आत्मनिवेदन है। जब तक जीव अपने चित्त में कर्तृत्वाभिमान रखता है, भगवान् से स्वतन्त्र अलग व्यक्तित्व बनाये रखता है, अपने देह, परिवार, सम्पत्ति एवं कर्मों के प्रति आसक्त रहता है तथा भगवान्-निर्मित इस जगत् के अन्तर्गत अपना स्वतन्त्र जगत् बना कर उसमें निवास करता है, तब तक वह किसी के प्रति आत्मनिवेदन नहीं कर सकता।

जब तक साधक के चित्त में अपनी साधना के प्रति अभिमान का भाव होता है, तब तक वह अपने प्रयत्न का ही अवलम्बन लेता है। किन्तु दीर्घकालीन कठिन साधना करने के उपरान्त भी जब उसे कुछ उपलब्ध नहीं होता, तब अपने पुरुषार्थ के प्रति उसका विश्वास डगमगाने लगता है। वह किसी दूसरे की शक्ति को सहारा बनाकर भवसागर तरने की बात सोचता है और भगवान् अथवा गुरु के शरणापन्न होता है। उसकी यही स्थिति आत्मनिवेदन के सर्वथा अनुकूल होती है। सूरदास के शब्दों में—

जो हम भले-बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई, बिनती सुन प्रभु मेरे॥

हे प्रभो! अच्छा-बुरा, गुणी-अवगुणी, पापात्मा-पुण्यात्मा—जैसा भी हूँ, आपका ही तो हूँ। आपकी शरण हूँ। आप ही मेरी लाज रखने वाले हैं। प्रभो! मेरी पुकार सुन लें।

जब मनुष्य जगत् के विषयों, परिस्थितियों से अत्यन्त दुःखी हो उठता है, उनसे पिण्ड छुड़ाना चाहता है, किन्तु उसे कोई रास्ता दिखायी नहीं देता, उसके सभी प्रयत्न विफल हो जाते हैं और चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है, तब वह भगवान् की शरण ग्रहण करने की सोचता है और गुरु की खोज आरम्भ करता है। उसके चित्त की यह स्थिति आत्म-निवेदन के सर्वथा अनुकूल होती है।

गीता में विरोधी सेना में अपने मामा, ताऊ, गुरु इत्यादि को देखकर अर्जुन का चित्त विषादयुक्त हो गया। उसने युद्ध करने से इनकार कर दिया। विद्वानों जैसी बड़ी-बड़ी बातें करने लगा। उसे अपनी बुद्धि तथा पुरुषार्थ पर बहुत अधिक भरोसा था, किन्तु अन्ततः निराश हो गया। उसे कुछ सूझ ही नहीं पड़ता था कि अब क्या करना चाहिए? तब अर्जुन भगवान् कृष्ण का शरणागत हुआ—

"शिष्यस्तेऽहं शाधिमाम् त्वां प्रपन्नम्।"

हे भगवन्! मैं आपका शिष्य तथा आपकी शरण में हूँ। तब भगवान् का हृदय पसीजा और अर्जुन को गीता-ज्ञान का लाभ हुआ। जब भक्त चारों ओर से निराश हो कर गुरु की शरण ग्रहण करता है, उन के दिये हुए नाम की निरन्तर सेवा करता है और गुरु के उपदेश, आदेश के अनुसार अपने जीवन का विकास करता है, तब गुरु-शक्ति शिष्य के चित्त में जागृत एवं प्रकाशित होती है। तब साधक को ऐसी पूँजी प्राप्त हो जाती है जिसके तुल्य जगत् में कोई दूसरी नहीं है। तब साधक की चित्त-शुद्धि का सारा उत्तरदायित्व गुरु-शक्ति अपने ऊपर ले लेती है। कहा भी है—

माला जपूं न कर जपूं, मुख से कहूँ न राम।
राम मेरा सुमिरन करे, मैं पाऊँ विश्राम ॥

तब भक्त को माला जपने, उँगलियों पर मन्त्र की गिनती करने अथवा मुख से नाम जपने की आवश्यकता नहीं रहती। तब तो भगवच्छक्ति ही साधक में जागृत होकर क्रियाशीला होती है। स्वयं भगवान् ही भक्त के लिए साधनरत हो जाते हैं। भक्त तो केवल मात्र दृष्टाभाव से जागृत शक्ति की क्रियाओं को समर्पण युक्त हो कर देखता रहता है। भगवान् काम करता है और साधक विश्राम ! यही तो मनुष्य की वास्तविक स्थिति है जिसे गुरुकृपा से शक्ति के अन्तर्मुखी जागृत होने पर ही अनुभव किया जा सकता है। जगत् में सभी कुछ करने वाली ईश्वरीय शक्ति ही है। मनुष्य तो केवल अभिमान करता है। सर्वसमर्थ शक्ति को तो अभिमान नहीं, किन्तु शक्तिहीन जीव को शक्ति का अभिमान होता है। इसी को सूरदासजी ने इस प्रकार कहा है—

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनो पुरुषारथ मानत, अति झूठे हैं सोइ ॥
साधन मंत्र यंत्र उद्यम बल, यह सब डारहु धोइ।
जो कछु लिखि राखी नंदनंदन, मेटि सकै नहि कोइ ॥

जिस शक्ति की क्रियाशीलता का अपने अन्तर में अनुभव होता है, उस के प्रति समर्पण ही आत्म-निवेदन है।

सूरदास को ऐसा सविनय आत्म-निवेदन करने का विचार इसलिए आया क्योंकि जगत् के विषयों में उलझ कर उन्हें दुःख की अनुभूति बहुत हो चुकी थी। अपने साधन पर अभिमान रख कर वह विषयों से छूटने का प्रयत्न भी बहुत कर चुके थे। थक-हार कर वे भगवद्-शरणापन्न हुए तथा कह उठे—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिर चोलना, कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा शब्द रसाल।
भरम भरयो मन भयो पखावज, चलत कुसंगत चाल॥
तृष्णा नाद करत घट भीतर, नाना विधि दे ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दियो भाल॥
कोटिक कला काँछ देखराई, जल थल सुध नहीं काल।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल॥

सूरदासजी कहते हैं कि हे गोपाल अर्थात् इन्द्रियों के पालक भगवान् ! मैं बहुत नाच चुका। अब तो थक गया। जन्म-जन्मान्तर से नाचता चला आ रहा हूँ। काम, क्रोध का चोलना पहिन कर, गले में विषयों की माला धारण कर, पाँव में महा-मोह के नूपुर बाँधकर निन्दा का रसास्वादन करते हुए, मन में भ्रम का पखावज बजाते हुए, कुसङ्गति की चाल चलते हुए, तृष्णा नाद का अपने अन्तर में श्रवण करते हुए, तरह-तरह की ताल देते हुए, कटि में माया का फेंटा बाँधे हुए तथा माथे पर लोभ का तिलक लगा कर इस नट ने अनेकों प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन किया जिस से उसे जल, थल अथवा काल की भी सुध नहीं रही।

सूरदास जी कहते हैं कि यह सभी अविद्या के ही अन्तर्गत था जिसे, हे नन्दलाल ! दूर करने में आप ही समर्थ हैं।

सूरदास जी ने इस पद में जन्म-जन्मातर से चले आ रहे मनुष्य के नृत्य का वर्णन किया है। अविद्या के कारण ही जीव के चित्त में भाँति-भाँति की योनियों के संस्कार उदय होते रहते हैं तथा जीव उन्हीं से आवृत हो कर भाँति-भाँति के स्वाँग रचता एवं तरह-तरह की क्रियाएँ करता है। सुख की

खोज में जीव अनेकों कौतुक करता है, किन्तु फिर भी उसकी अविद्या घटने के स्थान पर बढ़ती ही जाती है। श्री एकनाथ महाराज कहते हैं—

पंचभूताचिये सांपडलो संदी। घातलो से बन्दी अहंकारे ॥१
आपुल्या आपण बांधलिका गला। नेणे चि निराला असता हो ॥२
कासया हा सत्य लेखिला संसार। कां हे केले चार माझे माझे ॥३
किंचित सुखाचा धरिला अभिलास। तेणे बहु नास केला पुढे ॥४
का नाही शरण गेलो नारायणा। का नाही वासना आवरली ॥५
तुका म्हणे आता देह देऊ बली। करुनी सांडू होली संचिताची ॥६

इस पञ्चभौतिक शरीर के अन्दर अहङ्कार की वजह से मैं बन्दी बना लिया गया। खुद अपने हाथ से मैंने अपने को फँसा लिया और स्वतः मुक्त होते हुए भी मैं उसे समझता ही नहीं। मैंने इस संसार को किसलिए सच माना ? यह सब पसारा काहे के लिए बढ़ाया ?

क्षणिक इन्द्रिय-सुख की अभिलाषा कर मैंने अपना कितना बड़ा नुकसान कर लिया ? मैं भगवान् की शरण में क्यों नहीं गया ? मैंने अपनी वासना को नियन्त्रण में क्यों नहीं रक्खा ? तुकाराम कहते हैं कि इस देह की बलि देकर मैं अपने सञ्चित संस्कारों की होली जलाऊँगा, इन्हें दग्ध करूँगा।

अन्त में सन्त एकनाथ महाराज का एक अभङ्ग उद्धृत कर इस विषय को समाप्त करते हैं जिसमें उन्होंने नवधा भक्ति के नौ प्रतिनिधि भक्तों का वर्णन किया है—

नवविधा भक्ति नव आचरती।
त्याची नाम कीर्ति सांगू आता ॥१
एक एक नाम घेता प्रातः काली।
पाया होय होली क्षणमात्रे ॥२

श्रवणे परीक्षिती तरला भूपती।
सात दिवसा मुक्ति जाली तया ॥३
महाभागवत करूनि श्रवण।
सर्वांगा चे कान केले तेणे ॥४
श्री शुक आपणि करून कीर्तन।
उद्धरिला जाण परीक्षिती ॥५
हरिनाम घोषे गर्जे तो प्रह्लाद।
स्वानन्दे प्रबोध जाला त्यासी ॥६
स्तम्भी अवतार हरि प्रगटला।
दैत्य विदारिला तया ॥७
पाया चा महिमा स्वये जाणे रभा।
प्रीय पुरुषोत्तमा जाली तेणे ॥८
हरि पादांबुज सुकुमार कोवले।
तेथे कर कमले अखंडित ॥९
गाईं चिया मागे श्रीकृष्ण पाडले।
अक्रूरे घातले दंडवत ॥१०
करूनी वंदन घासी लोटांगण।
स्वानन्दे निमग्न जाला तेणे ॥११
दास्यत्व मारुती अर्चे देहा स्थिती।
सीता शुद्धी कीर्ति केली तेणे ॥१२
सेव्य सेवक भाव जाणे तो मारुती।
स्वामी सीतापती संतोषला ॥१३
सख्यत्व स्वजाती श्रीपती।
स्वामी सर्वभावे प्रीति अर्जुनासी ॥१४
उपदेशिली गीता सुखी केले पार्था।
जन्म मरण वार्ता खुंट विली ॥१५

आत्म-निवेदन करुनिया बली।
जाला वनमाली द्वारपाल ॥१६
औट पाडल भूमि घेरुनि दान।
याचक आपण स्वये जाला ॥१७
नवविधा भक्ति नवजणे केली।
पूर्ण प्राप्ति जाली तयासागी ॥१८
एका जनार्दनी आत्म-निवेदन।
भक्ति उरले नाही ॥१९

श्री एकनाथ महाराज कहते हैं कि जिन नौ भक्तों द्वारा नौ प्रकार की भक्ति की गयी, उनके नाम और कीर्ति का वर्णन कैसे करूँ ? उत नौ भक्तों ने उपरोक्त नवधा-भक्ति के एक-एक अङ्ग को अपने जीवन में उतारा। उनके नाम एवं कीर्ति ऐसी कल्याणकारी है कि मनुष्य प्रातःकाल उठकर उनका नाम-स्मरण एवं उच्चारण करे तो जीव के अनन्त पापों का नाश हो जाता है। श्रवण के द्वारा राजा परीक्षित का उद्धार हुआ जिसे केवल सात दिनों के अन्दर श्रीमद्भागवत की कथा-श्रवण से मोक्ष-लाभ हुआ। यह कथा-श्रवण करने के लिए उसने अपनी प्रत्येक इन्द्रिय एवं शरीर के प्रत्येक अङ्ग को कानों का रूप दिया और इस प्रकार श्रीमद्भागवत की एक-एक बूंद को ग्रहण कर लिया। इससे चित्त की आन्तरिक स्थिति कितनी ऊँची उठ गयी होगी, इस बात की सहज कल्पना करना अत्यन्त कठिन है।

श्री शुक मुनि ने भी स्वयं कीर्तन कर परीक्षित का उद्धार किया। अपनी चित्तस्थिति आध्यात्मिक दृष्टि से ऊपर उठाये बिना कोई भी महापुरुष अन्य व्यक्ति का उद्धार करने में सक्षम नहीं होता। भक्त प्रह्लाद ने हरिनाम का निरन्तर स्मरण कर

आत्मज्ञान प्राप्त किया। भगवान् स्तम्भ में से प्रकट हुए और हिरण्यकश्यप का बध किया। चरणों के सेवन की महिमा तो स्वयं रमा ही जानती हैं जो श्रीहरि की परम प्रियतमा हुईं। गायों के पीछे-पीछे श्रीकृष्ण की कल्पना कर अक्रूर स्थान-स्थान पर प्रणाम करते रहे। उन्हें आत्मानन्द का लाभ हुआ। दास्य-भाव में रहकर हनुमान जी श्रीराम की सेवा-अर्चा करते रहे जिससे उन्हें सीता-मुक्ति का फल प्राप्त हुआ। उनके सेवक-सेव्यभाव के चरम उत्कर्ष से श्रीसीतापति स्वयं प्रसन्न हुए।

सखाभाव से अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को अपना बनाया। उसे भगवान् की अत्यधिक प्रीति प्राप्त हुई। उदारमना होकर भगवान् ने उसे गीता का उपदेश किया जिसके फलस्वरूप वह जीवन-मरण के चक्र से मुक्त हो गया। आत्मनिवेदन कर राजा बलि ने भगवान् को अपना द्वारपाल बनने के लिए विवश किया। तीन कदम भूमि का दान लेकर और स्वयं याचक हो कर दासता की। इस प्रकार नौ भक्तजनों ने नवधा भक्ति का अनुष्ठान किया। श्री एकनाथ महाराज कहते हैं कि आत्म-निवेदन के पश्चात् भगवान् के बीच दूजा भाव बचता ही नहीं।

नवधा भक्ति के आरम्भ में हमने श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा शबरी को दिये गये उपदेश का उल्लेख किया था कि यदि किसी व्यक्ति में भक्ति के इन नौ अङ्गों में से कोई-सा एक भी अङ्ग विद्यमान हो तो उसका कल्याण हो जाता है। एकनाथ जी का उपरोक्त अभङ्ग भक्ति के एक-एक अङ्ग का उदाहरण प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम किसी एक अङ्ग का बाह्य स्वरूप प्रकट होता है, फिर अन्तरङ्ग नवधा भक्ति विकसित होनी आरम्भ होती है जो उत्तरोत्तर भक्त को ऊपर उठाती चली जाती है।

सन्तवाणी में परा भक्ति

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कलियुग के लक्षणों का इस प्रकार वर्णन किया है—

भए लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे शुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहऊँ कछुक कलि धर्म ॥

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी ॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥
मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारंभ दम्भ रत जोई। ता कहुँ सन्त कहइ सब कोई ॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दम्भ सो बड़ आचारी ॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुणवन्त बखाना ॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ज्ञानी सो बिरागी ॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥

असुभ वेष भूषन धरें भच्छा भच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माँहिं ॥
जे अपकारी चार तिन्हकर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम वचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ ॥

नारि बिवस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नर मरकट की नाईं ॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव विप्र श्रुति सन्त विरोधी ॥
गुन मंदिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी ॥

सौभागिनी विभूषन हीना। बिधबन्ह के सिंगार नवीना ॥
गुरु सिष बधिर अन्ध को लेखा। एक न सुनहिं एक नहिं देखा ॥
हरइ शिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महुँ परई ॥
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं विप्र गुरु घात ॥९९(क)

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाट।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाट ॥९९(ख)

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेद बादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ॥
आपु गए औरन हू घालहिं। जे कहुं सतमारग प्रतिपालहिं ॥

कल्प कल्प भरि एक एक नरका।
परहिं जो दूषहिं श्रुति कर तरका ॥

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा ॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूँड़ मुड़ाय भये संन्यासी ॥
सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना ॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥

भये बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग ॥१००(क)

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक ॥१००(ख)

बहु दाम सँवारहि धाम जती। विषया हरि लीन्ह न रही बिरती ॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही ॥
कुलवंति निकारहि नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबारि गती ॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलालन दीख नहीं जब लौं ॥

ससुरारि पिआरि लगी जब तें । रिपु रूप कुटुम्ब भए तब तें ।।
नृप पाप परायन धर्म नहीं । करि दंड बिडम्ब प्रजा नितहीं ।।
धनवंत कुलीन मलीन अपी । द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी ।।
नहिं मान पुरान न बेदहि जो । हरि सेवक सन्त सही कलि सो ।।
कवि वृन्द उदार दुनी न सुनी । गुन दूषक बात न कोपि गुनी ।।
कलि बारहि बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।।

सुनु खगेस कलि कपट हठ दम्भ द्वेष पाखण्ड ।
मान मोह मारादि मद व्यापि रहे ब्रह्मांड ।।१०१(क)
तापस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान ।
देव न बरषहिं धरनी बए न जामहिं धान ।।१०१(ख)

अबला कच भूषन भूरि छुधा । धनहीन दुखी ममता बहुधा ।।
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता । मति थोरि कठोर न कोमलता ।।
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं । अभिमान विरोध अकारन ही ।।
लघु जीवन संवतु पंच दसा । कलपांत न नास गुमानु असा ।।
कलिकाल बिहाल किए मनुजा । नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ।।
नहिं तोष बिचारि न सीतलता । सब जाति कुजाति भए मगता ।।
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता । भरि पूरि रही समता बिगता ।।
सब लोग वियोग बिसोक भए । वरणाश्रम धर्म अपार गए ।।
दम दान दया नहिं ज्ञान पनी । जड़ता परवंचकताति घनी ।।
तनु पोषक नारि नरा सगरे । पर निंदक जे जग सो बगरे ।।

सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार ।
गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार ।।१०२(क)
कृत जुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहि लोग ।।१०२(ख)

कलियुग में सभी लोग मोह के वशीभूत हो जाते हैं । तब वर्णाश्रम कर्म बहुत क्षीण हो जाता है । सभी स्त्री, पुरुष वेद-

विरोधी चर्चा करते, सुनते एवं उस में रस लेते हैं। ब्राह्मण वेद-ज्ञान को बेचने वाले हो जाते हैं तथा राजा प्रजा का खून चूसने वाला हो जाता है। वेद, धर्म, अध्यात्म सभी गौण हो जाते हैं। कोई उनके उपदेश को न सुनता है और न ही मानता है। जिसको जैसा अच्छा लगता है, वह वैसा ही करता है। वही उसका मार्ग होता है। जो डींग हाँकता है, वही पंडित माना जाता है। जो मिथ्या दम्भ अर्थात् आडम्बर रचता है, दम्भी है, वही जगत् में सन्त के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करता है।

जो छल, कपट, डरा-धमका कर किसी भी प्रकार दूसरे का धन हरण कर लेता है, वही बुद्धिमान माना जाता है। जो दम्भ करता है वह महान् आचारी गिना जाता है। जो झूठ बोलता है एवं हँसी, मजाक करता है, कलियुग में ज्ञानी एवं वैराग्यवान् स्वीकार किया जाता है। जिसके बड़े-बड़े नख, लम्बी-लम्बी जटाएँ होती हैं, वही कलियुग में तपस्वी कहा जाता है। जो अमङ्गलकारक वेश एवं भूषण धारण करते हैं तथा भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार छोड़कर कुछ भी खा लेते हैं, वे लोग ही कलियुग में योगी, सिद्ध तथा पूज्य माने जाते हैं।

जिस व्यक्ति के आचरण दूसरों के लिए अपकारी हों, उन्हीं का बड़ा गौरव होता है एवं वे ही सम्माननीय होते हैं। जो मन, वचन एवं कर्म से झूठे होते हैं, वही कलियुग में अच्छे वक्ता माने जाते हैं। कलियुग में मनुष्य स्त्रियों के वशीभूत होते हैं तथा बाजीगर की नाईं उनकी स्त्रियाँ जिस प्रकार उन्हें नचाती हैं, वे नाचते हैं। द्विजों को शूद्र उपदेश करते हैं तथा गले में जनेऊ धारण कर कुत्सित दान लेते हैं। मनुष्य काम और क्रोध में रत तथा क्रोधी होते हैं। देवता, ब्राह्मण तथा सन्तों का विरोध करते हैं। अभागिनी नारियाँ गुणों के धाम सुन्दर पति को

छोड़कर पर पुरुष का सङ्ग तथा सेवा करती हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ तो आभूषण रहित रहती हैं; किन्तु विधवा स्त्रियों के नित्य नये शृङ्गार देखने को मिलते हैं। शिष्य तथा गुरु में बहरों तथा अन्धों जैसी स्थिति होती है। शिष्य गुरु-उपदेश को श्रवण नहीं करता एवं गुरु भी ज्ञान-दृष्टि से रहित ही होते हैं। गुरु शिष्य का धन हरण करने में तो रुचि लेता है, पर शिष्य का शोक हरण नहीं कर सकता। वह गुरु घोर नर्क में पड़ता है। माता-पिता बालकों को बुला कर वही धर्म सिखाते हैं जिससे उनकी उदरपूर्त्ति हो अर्थात् धर्म (कर्त्तव्य) परहित-अहित का विचार, मङ्गल-अमङ्गल सब गौण होकर विषय एवं सुख-भोगों के साधन मुख्य हो जाते हैं।

स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञान के सिवाय कोई दूसरी बात नहीं करते अर्थात् हर व्यक्ति अपने को ब्रह्मज्ञानी दर्शाना चाहता है। वस्तुस्थिति यह है कि नगण्य लाभ के हेतु ही वे गुरु या ब्राह्मण तक ही हत्या कर डालने में तत्पर रहते हैं। शूद्र ब्राह्मणों से विवाद करते हैं तथा उनसे कहते हैं कि "हम तुमसे क्या कम हैं ? अर्थात् उनका मतलब है कि शरीर सब का समान है, फिर ऊँच-नीच किस बात की ? जो ब्रह्म को जानता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण होता है। तुम तो हमारे ही जैसे हो।" ऐसा कहते हुए उन्हें डाँट लगाते हैं। जो परायी स्त्री में आसक्त, कपट करने में चतुर तथा मोह, द्रोह एवं ममता में लिपटे हैं, अपने आपको ब्रह्मज्ञानी दर्शाना चाहते हैं, अभेदवादी अर्थात् ब्रह्म तथा जीव में अभेद है, ऐसा ज्ञान प्रकट करने वाले ही ज्ञानी होते हैं। इस कलियुग का ऐसा ही चरित्र मैंने देखा है।

वे स्वयं तो नष्ट होते हैं अर्थात् धर्म से विमुख होकर संसार-बन्धन में पड़े होते हैं, किन्तु उन्हें यदि कोई सन्मार्ग का प्रति-

पादन करता हुआ दिखाई देता है तो उसे भी नष्ट कर देते हैं। उसे सन्मार्ग से हटा कर जगदाभिमुखी प्रवृत्त करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं। जो कुतर्क एवं युक्ति का सहारा लेकर वेद की निन्दा करते हैं, ऐसे लोग कल्प-कल्प भर एक-एक नरक में पड़े रहते हैं। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल तथा कलवार आदि अधम वर्णों के लोग स्त्री के मर जाने अथवा घर की सम्पत्ति नष्ट हो जाने के कारण वैराग्याभिभूत होकर संन्यासी हो जाते हैं तथा फिर ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों से अपने आपको पुजवाते हैं। इस प्रकार इहलोक तथा परलोक दोनों को नष्ट करते हैं। ब्राह्मण स्वजाति की विदुषी एवं सुशील कन्याओं को त्याग कर अनपढ़, लोभी, कामी, आचार-हीन, मूर्ख, अधम एवं व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी बनते हैं।

शूद्र विभिन्न प्रकार के जप, तप और व्रत करते हैं और उच्च आसन अर्थात् व्यासपीठ पर बैठकर पुराणों की व्याख्या करते हैं। श्रुतिसम्मत एवं वैराग्यज्ञान से युक्त जो हरिभक्ति का मार्ग है, मोहवश उसके अनुसार चलने में असमर्थ हैं एवं अनेकों नये-नये पन्थों की कल्पना करते हैं। संन्यासी लोग बहुत धन व्यय कर अपने आश्रमों, मन्दिरों एवं स्थानों को सजाते हैं। उनमें वैराग्य का सर्वथा अभाव हो गया है तथा विषयों ने उन्हें हर लिया है। तपस्वी तो धगवान् हो गये हैं, किन्तु गृहस्थ दरिद्र हैं। कलियुग की लीला कुछ कही नहीं जाती।

कुलवती एवं सती अर्थात् कुल की मर्यादा तथा सतीत्व का पालन करने वाली स्त्री को घर से निकाल देते हैं तथा अच्छे आचरण को छोड़कर घर में दासी को ले आते हैं। पुत्र अपने माता-पिता को तभी तक मानते हैं, जब तक उन्हें स्त्री का मुख दिखायी नहीं पड़ता। जब से ससुराल प्यारी लगने लगी

है, तब से कुटुम्बी तो शत्रुरूप हो गये। राजा पाप-परायण एवं धर्म से विमुख होते हैं। बिना अपराध किये ही वे प्रजा को नित्य ही दण्ड देते एवं उसकी विडम्बना करते हैं। धनी लोग, चाहे वे किसी भी जाति के हों, कुलीन ही माने जाते हैं। द्विज का चिन्ह केवल मात्र जनेऊ तक सीमित रह गया है।

वेदों और पुराणों को न मानने वाले ही कलियुग में हरभक्त तथा सच्चे सन्त कहलाते हैं। कवियों के तो झुंड-के-झुंड हो गये हैं; किन्तु संसार में इन कवियों को आश्रय देने वाला, उदार कोई सुनायी नहीं देता। गुण में भी दोष निकालने वाले तो बहुत हैं, परन्तु स्वयं गुणी कोई नहीं। कलियुग में बार-बार अकाल पड़ते हैं। लोग अन्न के अभाव में दुःखी होकर मरते हैं। कलियुग में कपट, दम्भ, हठ, द्वेष, पाखण्ड, मान, मोह तथा काम आदि ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। मनुष्य जप, तप, यज्ञ, व्रत एवं दान आदि धर्म तामसी भावना से युक्त होकर सम्पादित करते हैं। इन्द्र पृथ्वी पर जल नहीं बरसाते जिससे बोया हुआ अन्न भी नहीं उगता है। स्त्रियों के शरीर पर किसी भी भूषण के अभाव में उनके बाल ही शृंगार का साधन रह गये हैं। उन्हें भूख बहुत लगती है अर्थात् विषय-वासना से वे सदैव ही अतृप्त रहती हैं। वे धन के अभाव तथा विभिन्न प्रकार की ममता होने के कारण दुःख भोगते हैं। वे मूर्ख सुख चाहते हैं, किन्तु अपने धर्म (कर्त्तव्य) में रत नहीं होते। वे अल्प-बुद्धि तथा कठोर एवं उनमें कोमलता का सर्वथा अभाव है। मनुष्य तरह-तरह के रोगों से पीड़ित हैं। उनमें सुख-भोगों को भोगने की शारीरिक क्षमता ही नहीं है। बिना कारण ही दूसरों का विरोध तथा अभिमान करते हैं। दस-पाँच वर्ष का अल्प जीवन होने पर भी घमंड ऐसा करते हैं जैसे कल्पांत होने पर भी उनका नाश होने वाला नहीं है।

कलिकाल ने मनुष्यों को बेहाल, अस्त-व्यस्त कर डाला है। कोई बहन-बेटी का विचार नहीं करता। लोगों में सन्तोष, विवेक, शीलता कुछ भी नहीं है। जाति-कुजाति के सभी लोग भीख माँगने वाले हो गये। चारों दिशाओं में ईर्षा, कटु वचन तथा लोभ का बोल बाला है। समता का भाव समाप्त हो चुका है। सर्वत्र लोग विभिन्न प्रकार के वियोग से, शोक से भरे पड़े हैं। वर्णाश्रम-धर्म के आचरण नष्ट हो गये हैं। इन्द्रिय दमन, दान, दया तथा विवेक-बुद्धि कहीं देखने को नहीं मिलती। मूर्खता तथा दूसरों को ठगने का व्यापार बहुत बढ़ गया है। समग्र स्त्री, पुरुष शरीर के पालन अर्थात् इन्द्रिय-सुख के लिए लालायित हैं। सारे संसार में परनिंदक ही फैल रहे हैं। पर कलिकाल में एक बहुत बड़ा गुण भी है कि इसमें किसी प्रयत्न, पुरुषार्थ के बिना ही भव-बन्धन से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। सतयुग, त्रेता, द्वापर में जो गति पूजन, यज्ञ तथा योग-मार्ग से प्राप्त होती है, कलियुग में वही गति केवल भगवन्नाम-स्मरण से प्राप्त हो सकती है।

नाम-जप का महत्त्व

कैसा भयानक एवं बीभत्स चित्रण किया है गोस्वामी तुलसीदास जी ने ! इस समय प्रत्यक्ष देखा भी जा रहा है कि ये सभी बातें ठीक घटित हो रही हैं। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में प्राणी मात्र का यह कर्त्तव्य है कि माया रूपी इस घिनौने चक्र से अपने आप को बचाने का प्रयत्न करे। इस माया प्रधान युग को तो कोई परिवर्त्तित नहीं कर सकता। महात्मा, संन्यासी, सद्गृहस्थ सभी इसके आगे विवश हैं। किन्तु अपने आप को इससे बचाया अवश्य जा सकता है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त श्री गोंदवलेकर महाराज के कथानुसार

जब गाँव में ठंड पड़ती है तो लोग स्वयं गरम वस्त्र धारण कर लेते हैं, न कि गाँव में से ठंड को बाहर निकालने के लिए उद्यत होते हैं। इसी प्रकार कलि-प्रवाह में सभी बहे जा रहे हैं। जिस का शिर कलिरूपी जल के अन्दर चला जाता है, वह डूब कर विनाश को प्राप्त होता है। जिसका सिर जल से बाहर रहता है, उसे प्रवाह के साथ-साथ तैरना तो पड़ेगा, किन्तु वह डूबेगा नहीं, जब तक कि वह किनारे पर नहीं लग जाता। सिर जल से बाहर रहने का तात्पर्य भगवन्नाम-स्मरण से है अर्थात् हृदय में भगवान् का नित्य निरन्तर स्मरण बनाये रखना। इसी बात का संकेत गोस्वामी जी ने रामचरित मानस में दिया है।

हठयोग, ध्यान, तपस्या, यज्ञ, योग इत्यादि कलियुग में बड़े कठिन हैं, क्योंकि वैसा शरीर, स्वास्थ्य, चरित्र, परिस्थितियाँ, वातावरण, आहार, उपयुक्त समर्थ गुरु,—कुछ भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु नाम-स्मरण कोई कैसी भी परिस्थितियों में आरम्भ कर सकता है। स्त्री, पुरुष, बाल-वृद्ध, पठित, अपठित इत्यादि सभी नाम-स्मरण के अधिकारी हैं।

मन्त्र जप अथवा नाम जप वास्तव में नाम स्मरण की स्थिति को निरन्तर बनाये रखने के लिए अभ्यास रूप होता है। जप निरन्तर बनाये रखना असंभव होता है। नाम स्मरण प्रतिक्षण बना रह सकता है। विषय विस्तार में अधिक न जाते हुए हम सीधे अपनी बात तक आते हैं। जब तक कुण्डलिनी अथवा आह्लादिनी अन्तर्मुखी जागृत होकर क्रियाशीला नहीं हो जाती एवं साधक में कर्त्तापन की भावना के स्थान पर दृष्टापन का भाव उदय नहीं हो जाता, तब तक स्मरण की निरन्तरता भी नहीं रह सकती। तब पराशक्ति आह्लादिनी

अन्तर में प्रतिक्षण क्रियाशीला रहती है। यदि साधक इस क्रियाशीलता के प्रति अपना लक्ष्य बनाये रख सके तो स्मरण की निरंतरता भी बनी रह सकती है। सन्त अथवा महापुरुष जब स्मरण अथवा जप का अपनी वाणी में उपदेश करते हैं तो उन का लक्ष्य अन्तर में शक्ति जागृत कर उस की क्रियाओं का निरंतर घटित होते रहने एवं साधक का उन पर अपना चित्त स्थिर रखने से होता है। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में साधक का इस स्थिति को प्राप्त करना कठिन होता है। अतः आरम्भ करने के लिए वे कर्तृत्वाभिमानयुक्त नाप जप का ही आश्रय लेने की बात करते हैं। शक्ति की जागृति होकर क्रियाशीला हो उठने को ही परा अथवा परमप्रेमरूपा भक्ति कहा जाता है।

सन्तवाणी में नाम महिमा का बहुत अधिक गुणगान किया जाता है। पंजाब के सूफी भक्त बुल्लाशाह ने तो यहाँ तक कह दिया है—

बुल्ला बाकी सब गल्लड़ियाँ अल्लाह अल्लाह दो गल्ल।
कुझ रौला पाया आलमां, कुझ कागतां पाया झल्ल॥

बुल्ला कहता है कि वास्तविक बात तो 'राम-राम' ही है, बाकी तो सब फालतू बकवास है। या तो विद्वानों ने शोर मचा रक्खा है या इधर-उधर आस-पास फैले हुए कागजों ने पागल बना रक्खा है। मूल बात इतनी ही है कि 'राम-राम' जपो। इसी प्रकार सन्त दरिया साहब के अन्दर से रामनाम के महत्त्व पर वाणी इस प्रकार प्रस्फुटित हुयी—

राम नाम नहिं हिरदे धरा।
जैसा पसुवा तैसा नरा॥१

पसुवा नर उद्यम कर खावै।
पसुआ तो जंगल चर आवै ॥२
पसुवा आवै, पसुवा जाय।
पसुवा चरै औ पसुवा खाय ॥३
राम नाम ध्याया नहिं भाई।
जनम गया पसुवा की नाईं ॥४
राम नाम से नाहीं प्रीत।
यह ही सब पशुओं की रीत ॥५
जब दरिया जिन राम न ध्याया।
पसुवा ही ज्यों जनम गँवाया ॥६

दरिया साहब कहते हैं कि जिसने राम नाम अपने हृदय में नहीं रक्खा है, वह मनुष्य पशु के समान होता है। अन्तर केवल इतना है कि मनुष्य उद्यम करके खाता है; किन्तु पशु जंगल में चला जाता है। रामनाम के विवेक के अभाव में तो यही कहा जायेगा कि मनुष्य हो अथवा पशु, जन्म ग्रहण करते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जिसने भी मनुष्य होकर राम-नाम नहीं ध्याया, वह पशु के समान ही अपना जीवन व्यतीत करता है, क्योंकि पशुओं का ही ऐसा स्वभाव होता है कि उन में रामनाम के प्रति कोई प्रेम नहीं होता। अतः दरिया साहब कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने रामनाम का स्मरण नहीं किया, उसने पशु की भाँति ही अपने जीवन को सुख-दुःख एवं विषय-भोग में व्यर्थ नष्ट कर दिया।

यह बात हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि वास्तव में मंत्र अक्षर-समूह नहीं वरन् उसके अन्दर छिपी चैतन्य शक्ति अथवा देवत्व होता है जो मंत्र जप के दीर्घकालीन अनुष्ठान अथवा गुरु-कृपा से अन्तर्मुखी जाग्रत होती है। मनुष्य की शक्ति

यदि अन्तर्मुखी प्रतिप्रसव क्रम में जागृत हो, तभी उसे मनुष्य की संज्ञा देना उचित होता है, नहीं तो जब तक शक्ति प्रसव-क्रम में कार्य करती रहती है, तब तक तो तत्व अथवा अध्यात्म की दृष्टि से मनुष्य एवं पशु में कोई अन्तर नहीं होता। अब जरा सहजोबाई का नाम गुणगान सुनिये—

ज्यों त्यों राम नाम ही तारैं।
जान अजान अग्नि जो छ्वै, वह जारै पै जारै ।।
उलटा सुलटा बीज गिरै ज्यों, धरती माहीं कैसे।
उपज रहे निहचै करि जानो, हरि सुमिरन ह्वै ऐसे ।।
वेद पुरानन में मथ काढ़ा, राम नाम तत सारा।
तीन काण्ड में अधिकी जानौ, पाप जलावन हारा ।।
हिरदा सुद्ध करै बुधि निरमल ऊँची पदवी देवै।
चरनदास कहै सहजोबाई, ब्याधा सब हरि लेवै ।।

जैसे-तैसे भव-बन्धन से पार उतारने वाला रामनाम ही है। जैसे जाने अथवा अनजाने में अग्नि छूने से अग्नि का जलाना निश्चित् होता है, ऐसा ही राम नाम है। कोई कैसा भी जपे, शुद्ध अथवा अशुद्ध, पवित्र अथवा अपवित्र अवस्था में, किन्तु उसका भव-सिंधु पार कर जाना निश्चित् होता है।

भूमि में बीज उलटा-सीधा कैसा भी गिरे, किन्तु वह अंकुरित होकर बड़ा होता ही है, यह निश्चय जानो।

हरि-स्मरण को भी ऐसे ही जानो। वेदों तथा पुराणों का मन्थन करके रामनाम का तत्व ढूँढ़ लिया है कि रामनाम ही एक सार है। कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड की सभी उपासनाओं एवं साधनाओं की अपेक्षा रामनाम सबसे अधिक उत्तम है जिससे चित्त में सञ्चित पापराशि जल कर भस्म हो जाती है। नाम-स्मरण से हृदय शुद्ध एवं बुद्धि निर्मल होती है और

आध्यात्मिकता की ऊँची पदवी प्राप्त होती है। चरनदास की शिष्या सहजोबाई कहती है कि नाम-स्मरण सभी बाधाएँ हर लेता है।

जब रामनाम में छिपी चैतन्यशक्ति जागृत होती है (जिसे मंत्र चैतन्य भी कहा जाता है) तब वह स्वाभाविक क्रियाओं के माध्यम से चित्त में सञ्चित संस्कारों एवं वासनाओं को क्षीण करती है जिसे यहाँ पापराशि को जलाना कहा गया है। संस्कार क्षीण होने से चित्त शुद्ध एवं बुद्धि निर्मल होती जाती है। बुद्धि पर मलीनता संस्कारों, वासनाओं की ही होती है। उनका आवरण उतरने से बुद्धि शुद्ध होती जाती है। तब साधक के सभी अन्तराय, विघ्न-बाधाएँ इत्यादि जो संस्कारों के कारण ही होती हैं, वे भी दूर हो जाती हैं। ऐसा है नाम-स्मरण का प्रभाव ! अब तुलसीदास जी की भी बात सुन लीजिये—

राम ! रावरो नाम साधु-सुरतरु है।
सुमरे त्रिविध धाम, हरत, पूरत काम,
सकल सुकृत सरसिज को सरु है।।१
लाभहू को लाभ, सुखहू को सुख, सरबस,
पतित पावन, उरहू को उरु है।
नीचेहू को ऊंचेहू को, रंक हू को राव हू को
सुलभ, सुखद आपनो-सो घरु है।।२
वेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
नाम-प्रेम चारि फलहू को फरु है।
ऐसे राम नाम सों न प्रीति, न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबो सोई नर खरु है।।३
नाम सो न मातु-पितु, मीत-हित बंधु गुरु,
साहिब, सुधी, सुसील, सुधाकरु है।

नाम सों निबाह नेहु, दीन को दयालु ! देहु,
दास तुलसी को, बलि, बड़ो बरु है ।।
—विनय-पत्रिका, २५५

हे राम ! साधकों के लिए आपका नाम कल्पवृक्ष है । उस नाम के स्मरण मात्र से तीनों ताप (दैहिक, दैविक और भौतिक) नष्ट होकर मनुष्य पूर्णकाम हो जाता है । भगवन्नाम के स्मरण में ही यथार्थ लाभ एवं सुख है जो पतितों को पावन करने (ऊँचा उठाने) तथा भय को भी भयभीत करने वाला है । अर्थात् राम नाम के स्मरण से साधक को किसी भी प्रकार का भय नहीं सताता । नाम-स्मरण की शक्ति मृत्युभय को भी दूर रखने वाली होती है । यह ऊँच-नीच, धनी-निर्धन सभी के लिए सुलभ तथा सुखदायक और अपने ही घर की तरह आराम-प्रद है । इस नाम के प्रति प्रेम की महिमा का वेद, पुराण एवं शङ्कर भगवान् ने भी बार-बार बखान किया है । यही चारों फलों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का प्रदाता है । ऐसे राम नाम से जो प्रीति नहीं रखता और न उसमें अपनी श्रद्धा ही प्रतिष्ठित करता है, वह मूढ़ है, अज्ञानी है,—ऐसा तुलसीदास जी का मत है । माता-पिता, मित्र-बन्धु, गुरु एवं स्वामी-इनमें से कोई भी राम-नाम के तुल्य नहीं है । वह साहिब (स्वामी) सुध लेने वाला, शीलयुक्त एवं सुखदायी है । यदि अपने नेह का नाता निभाना ही है तो इस नाम से ही निभाओ । वह दीन-हीन के प्रति दयालु है । तुलसीदास जी कहते हैं कि राम नाम में बड़ी शक्ति है ।

कबीर साहब तो अपने आपको नाम लेने वालों की चरण-धूलि कहते हुए इस प्रकार अपने विचार व्यक्त हैं—

जो जन लेहु खसम का नाऊँ, तिनके सद बलिहारी जाऊँ ।

जो गुरु के निर्मल गुन गावै, सो भाई मोरै मन भावै।
जेहि घट नाम रह्या भरपूर, तिनकी पग-पंकज हम धूर।
जाति जुलाहा मत का धीर, सहज-सहज गुन लेहि कबीर।

जो मनुष्य प्यारे पति परमेश्वर का नाम लेता है, मैं उसकी बलिहारी जाता हूँ। जो व्यक्ति गुरु के निर्मल गुणों का गान करता है, वह मेरे मन को बहुत अच्छा लगता है। जिसका हृदय भगवन्नाम से परिपूर्ण है, मैं उसकी चरणधूलि हूँ। मैं जाति का जुलाहा हूँ, अतः मेरी बुद्धि में धैर्य है अर्थात् भगवान् को प्राप्त करने में मैं उतावला नहीं हूँ। कबीर इन भगवद्गुणों को सहजरूप में ही ग्रहण करता है।

यह है नाम-जप के प्रति सन्तों का नम्र एवं दीन भाव। यदि नाम का चित्त पर प्रभाव पड़ता है तो नाम जपने वाला कभी भी उग्र, क्रोधी, उतावला नहीं हो सकता।

गुरु का महत्त्व

नामजप वस्तुतः आह्लादिनी शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति का साधन है जिससे अजपाजप तथा शक्ति की आन्तरिक क्रियाएं आरम्भ होकर स्वाभाविक परमप्रेमरूपा भक्ति की उपलब्धि होती है। मन्त्र या नाम स्वतः ही चुनकर आरम्भ कर दिया जाए तो उसकी जागृति के लिए दीर्घकालीन अनुष्ठान तथा पुरश्चरण इत्यादि करने की आवश्यकता पड़ती है जिस हेतु मन में उत्साह एवं फल-प्राप्ति के लिए धैर्य अनिवार्य है। यदि मन्त्र अथवा नाम गुरु से धारण किया जाता है तो गुरु की शक्ति नाम में सम्मिलित हो कर नाम को चेतना प्रदान कर देती है जिससे मंत्र के चैतन्य होने का मार्ग सरल हो जाता है। फलस्वरूप साधक की स्थिति शीघ्रतापूर्वक परा भक्ति में हो

जाती है। कर्तृत्वाभिमानयुक्त जप, उपासना इत्यादि की अवहेलना कर कई शास्त्रों एवं सन्तों ने गुरु को ही परा भक्ति की प्राप्ति का हेतु बताया है और अंतिम गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में गुरु-कृपा को कारण मानते हुए गुरुमहिमा का बखान किया है। किन्तु जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं, गुरु का पूर्ण, सत्यस्वरूप, समर्थ होना परमावश्यक है अन्यथा गुरु तथा शिष्य दोनों का अकल्याण होता है। गुरु के महत्व का वर्णन मीराबाई ने निम्नाङ्कित पद में इस प्रकार किया है—

री मेरे पार निकस गया, सद्गुरु मारचा तीर।
विरह भाल लागी उर अंदर, व्याकुल भया शरीर॥
इत उत चित्त चलै नहिं कबहूँ, डारी प्रेम जंजीर।
कै जाणै मेरो प्रीतम प्यारो, और न जाणे पीर॥
कहा करूँ मेरो बस नहीं सजनी, नैन झरत दोउ नीर।
मीरा कहै प्रभु तुम मिलियाँ बिनु, प्राण धरत नहिं धीर॥

सद्गुरु द्वारा छोड़ा गया भक्ति-भावना रूपी बाण मेरे हृदय के आर-पार निकल गया है। हृदय में विरह की तड़प लगी हुई है तथा तन भी व्याकुल हो रहा है। प्रेम की जंजीर से चित्त इस प्रकार बँध गया है कि उसने इधर-उधर भागना छोड़ दिया अर्थात् उसकी चञ्चलता का नाश हो गया। मेरी इस पीड़ा को मेरा प्यारा प्रियतम ही जानता है, अन्य कोई नहीं। हे सखी ! मैं क्या कहूँ, क्या करूँ ? मैं विवश हूँ। दोनों नयन झरते ही रहते हैं। अश्रुपात रुकता ही नहीं। मीराबाई कहती हैं कि हे प्रभु ! तुमसे मिले बिना प्राणों में धीरज ही नहीं रहता। अधीर मन तुम्हारे दर्शन की उत्कण्ठा लिये अति व्याकुल है। उसका धैर्य छूट रहा है।

'सद्गुरु ने तीर मारा'—अर्थात् गुरु प्रदत्त नाम अथवा मंत्र के साथ जो शक्ति मीराबाई ने प्राप्त की, उसने उसके चित्त का वेध किया। शक्ति अन्तर्मुखी प्रवाहित होने लगी। सद्गुरु अपने प्रिय शिष्य के कल्याण हेतु अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रसार कर उसे शिष्य की चित्त-शक्ति के तादात्म्य में लाते हैं। यह तीव्रगामी शक्ति शिष्य के शरीर, मन, प्राण में प्रविष्ट होकर उसे वेध देती है। मन अन्तर्मुखी बन कर अपनी चंचलता त्याग देता है। अर्थात् शक्ति उसके संस्कारों को क्षीण करके उसे एकाग्रता की स्थिति प्रदान कर देती है। आन्तर व्याकुलता, प्रभु-मिलन की लालसा, अभीष्टपूर्त्ति में विलम्ब से मन की अधीरता, निरन्तर अश्रुपूरित नयन कि प्रियतम के दर्शन कब होंगे—भक्ति की यही एकरसता है। मीराबाई कहती हैं कि सद्गुरु के तीर के हृदयवेधी प्रभाव को उनका प्रियतम प्रभु ही समझ सकता है, अन्य कोई नहीं।

उपरोक्त पद में गुरु-कृपा का कैसा वास्तविक एवं अनूठा प्रभाव बतलाया गया है। किसी कवि ने कहा है—

करूँ क्या बयान मैं हमनशीं,
असर उसके लुत्फे निगाह का।

अर्थात् उस कृपा-दृष्टि के मुझ पर पड़े प्रभाव का मैं वर्णन नहीं कर सकता। उसे अनुभव करनेवाला ही जान सकता है।

अब आगे सहजोबाई की मधुर एवं भावोत्पादक वाणी में गुरु-कृपा का आनन्द लूटिए—

सद्गुरु ने अवतार लियो है मिलि मिलि मंगल गाई।।
अद्भुत लीला कहा बखानौं, मो पै कही न जाई।
बहु विधि बाजे ब्राजन लागे, सुनत हिया हुलसाई।।

कलिजुग में हरि भक्ति चलाई, जन की करैं सहाई।
श्री शुकदेव करी जब किरपा, गावै सहजोबाई॥

आज सद्गुरु प्रकट हुए हैं, अतः आओ, हम सब मिलकर मंगलगान करें। उनकी अद्भुत लीला का क्या वर्णन करूँ? मुझसे तो नहीं कही जायेगी। अनेक प्रकार के वाद्यों का संगीत सुनायी दे रहा है जिसे श्रवण कर हृदय प्रफुल्लित हो गया है। इस कलियुग में हरि की भक्ति का प्रसार किया है। इस प्रकार लोक-कल्याण द्वारा वे सभी की सहायता करते हैं। जब शुकदेव की कृपा हुई, तभी सहजोबाई यह गुणगान कर रही है।

इस पद में सहजोबाई ने स्पष्टतः परा शक्ति की प्राप्ति में गुरुकृपा को कारण बतलाया है। जब गुरु शिष्य को दीक्षा प्रदान करते हैं, तब शिष्य के अन्तर में विभिन्न प्रकार की विस्मयकारी एवं आनन्ददायक क्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं। वे क्रियाएँ गुप्त होती हैं। बाह्य प्रकट क्रियाओं के होने पर भी उन का आनन्द साधक ही अपने अन्तर में अनुभव कर सकता है। इसलिए गीता में इस साधना को राजगुह्य अर्थात् गुप्त विद्याओं का राजा कहा गया है। सहजोबाई ने अपने अन्तर में घटित अद्भुत लीलाओं का संकेत किया है जिन्हें अनुभव तो किया जा सकता है, बताया नहीं जा सकता। दीक्षोपरान्त शक्ति-जागृति के अनेकों लक्षण होते हैं। सहजोबाई को शक्ति-जागृति की क्रिया नाद-श्रवण से प्रारम्भ हुई जिसका "बहुविधि बाजे बाजन लागे" कहकर उल्लेख किया है। कलियुग में प्रकृति की गति अत्यन्त तीव्र होती है जिससे जीवों के मन अत्यधिक चञ्चल हो जाते हैं। इसीलिए हमारी गुरु-परम्परा के आदि गुरु गङ्गाधर तीर्थ महाराज ने जगत् के कल्याण के लिए शक्तिपात का एक अत्यन्त सरल मार्ग निकाला

ताकि कलियुग के मायाग्रस्त लोग भी साधन एवं भक्ति का आनन्द लूट सकें। यही बात सहजोबाई "कलियुग में हरिभक्ति चलाई" कहकर बताती हैं। भक्ति की इसी प्रणाली को 'राम नाम की लूट' भी कहा जा सकता है क्योंकि गुरु की कृपा-प्राप्ति के पश्चात् स्वाभाविक एवं आन्तरिक परा भक्ति का ऐसा भण्डार खुल जाता है कि जहाँ से भक्त लोग कितना भी लूटें, वह कभी भी समाप्त नहीं होता।

नानकदेव ने अपनी अनोखी वाणी में बड़े सरल शब्दों में इस तथ्य का उद्घाटन किया है—

मुरशिद मेरा मरहमी जिन मरम बताया।
दिल अन्दर दीदार है खोजा तिन्ह पाया॥

मेरे गुरु परमात्मा के रहस्य को जानते हैं, क्योंकि स्वयं इस पथ के पथिक रहे हैं। इस रहस्य को उन्होंने मुझे भी बताया है। भगवान् को मनुष्य अपने से बाहर ढूँढ़ता है, इधर-उधर भटकता रहता है, जब कि वे उसके हृदय में अत्यन्त समीप होते हुए भी बहुत दूर रहते हैं। किन्तु जब शक्ति अन्तर्मुखी जागृत हो जाती है, तब वह अपने अन्दर ही खोजता है, प्रयत्न करता है, कठिनाइयों को झेलता है और अन्ततः भगवान् अन्दर ही प्रकट हो जाते हैं। अध्यात्म के सारे आनन्द उसके अन्दर ही प्रकट होने लगते हैं।

अब तनिक स्वामी ब्रह्मानन्द की बात भी सुन लीजिए—

आज सखी सद्गुरु घर आये।
मेरे मन आनन्द भयो री॥
दर्शन से सब पाप विनाशे।
दुख दरिद्र सब दूर गयो री॥१

अमृत वचन सुनत तम नाश्यो।
घट भीतर प्रभु पाय लियो री ॥२

जन्म-जन्म के संशय टूटे।
भव भय ताप मिटाय दयो री ॥३

ब्रह्मानन्द दास दासन को।
चरण कमल लिपटाय रह्यो री ॥४

आज मेरे चित्तरूपी घर में मेरे सद्गुरुदेव पधारे हैं अर्थात् गुरु-कृपा के फलस्वरूप गुरु-शक्ति मेरे चित्त में जागृत होकर क्रियाशीला हो उठी जिससे मेरा मन आनन्द-विभोर हो गया है। अपने अन्दर मैंने प्रत्यक्ष एवं निश्चित् रूप से ईश्वरीय शक्ति रूपी गुरु देखा। मेरे सभी सञ्चित पाप नष्ट हो गये। जगत् में अभाव का भाव समाप्त हो गया है। अब तो मैं अपने अन्तर के आनन्द में मगन रहता हूँ। अन्तर में अमृत वचन अर्थात् अन्तर्नाद श्रवण करने पर तम (अन्धकार) नष्ट हो गया है और चित्त में सर्वत्र आत्मा का ज्ञान-प्रकाश फैल गया है जिससे मुझे अपने अन्दर ही प्रभु-दर्शन प्राप्त हुए हैं।

मेरे जन्म-जन्म के संशय समाप्त हो गये हैं, क्योंकि इन सब का कारण तो मेरे चित्त में जन्म-जन्मातर से सञ्चित संस्कार ही थे। गुरु-शक्ति की कृपा के फलस्वरूप क्रियाओं के माध्यम से जब इन संस्कारों का ही नाश हो गया, तब भला संशय कहाँ रह सकता है? मेरे चित्त में व्याप्त जगत् का भय एवं ताप, दुःख सभी कुछ मिट गये। ब्रह्मानन्द जी कहते हैं कि मेरे गुरुदेव ने इस दासों के दास को अपने चरण-कमलों में लिपटा लिया है। फिर भला मुझे भवसागर पार होने की कोई भी चिन्ता कैसे हो सकती है?

ब्रह्मानन्द जी ने गुरु-कृपा का और भी अधिक विस्तार से वर्णन किया है—

ऐसी करी गुरुदेव दया, मेरा मोह का बन्धन तोड़ दिया ॥
दौड़ रहा दिन-रात सदा जग के सब कार विहारण में।
स्वप्ने सम विश्व दिखाय मुझे, मेरे चंचल चित्त को मोड़ दिया ॥१
कोई शेष गणेश महेश रहे, कोई पूजत पीर पगंबर को।
सब पंथ गरंथ छुड़ा करके, इक ईश्वर में मन जोड़ दिया ॥२
कोई ढूँढत है मथुरा नगरी, कोई जाय बनारस वास करे।
जब व्यापक रूप पिछान लिया, सब मर्म का भंडा फोड़ दिया ॥३
को न करूँ गुरुदेव की भेंट, न वस्तु दिये तिहुँ लोकन में।
ब्रह्मानन्द समान न होय कबी धन माणिक लाख करोड़ दिया ॥४

मेरे गुरुदेव ने मुझ पर ऐसी अनुकम्पा की कि मेरा मोह का भ्रम एवं बन्धन तोड़ दिया। यह मोह संस्कारों के कारण ही चित्त में व्याप्त था। जब संस्कार गुरुशक्ति की क्रियाओं द्वारा क्षीण हो गये तो मोह एवं वासना का भला चित्त में क्या काम हो सकता है ? मैं तो जगत् के कार्य, व्यवहार में सदा दौड़ता-भागता रहता था। मेरे गुरुदेव ने इस जगत् की निस्सारता दिखाते हुए—'यह स्वप्नवत् ही है'—इस का परिचय करवा दिया और जगत् के विषयों एवं अपने लिए कर्म करने की मेरी आसक्ति समाप्त कर दी। अब मेरा कर्म मेरे भगवान् की पूजारूप हो गया। मेरा चित्त आसक्ति का त्याग कर भगवान् को ओर मुड़ गया। जगत् में कोई गणेश अथवा महेश का नाम जपता है, कोई पीर-पैगम्बर को पूजता है, किन्तु मेरे गुरुदेव ने सभी पंथ एवं ग्रन्थों को छुड़वा कर मेरा मन प्रभु में जोड़ दिया है। अर्थात् मैं अपने से बाहर भिन्न-भिन्न देवी-

देवताओं की पूजा-उपासना में रत रहा, कभी किसी मार्ग में तो कभी किसी पंथ में जाता रहा, कभी शास्त्रों के पठन-पाठन में अपना चित्त लगाने का प्रयत्न करता; कभी किसी पैर-पैगम्बर के पीछे भागता, तीर्थों पर मारा-मारा फिरता रहा। माला जपते-जपते मैंने मनके घिस दिये। परन्तु मेरे गुरुदेव ने मेरे मन के अन्दर ही ईश्वरीय शक्ति को जागृत कर उसके प्रति परमप्रेम का भाव मुझ में भर दिया। मुझे बाहर भटकने की कोई आवश्यकता नहीं रही। कोई मथुरा-बृन्दावन में जा कर ढूँढ़ता है तो कोई काशी नगरी में जाकर वास करता है। किन्तु जब मैंने सर्वव्यापक अर्थात् कण-कण में व्याप्त ईश्वर के दर्शन कर लिए तब सभी रहस्य खुल गये। अर्थात् शक्ति संस्कारों को क्रियाओं में परिणित करती हुई जब चित्त को शुद्ध करती है तब साधक को प्रत्यक्ष अनुभूति होती है कि जो शक्ति उसके चित्त में कार्य कर रही है, वही बाहर जगत् में भी सर्व-व्यापक है।

गुरुदेव ने जो अमूल्य धन मुझे प्रदान किया, उसके बदले में उन्हें क्या भेंट करूँ? पृथ्वी पर तो ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो इस अमूल्य निधि के बराबर हो सके, अपितु तीनों लोकों में भी कहीं नहीं है। अतः गुरु की सर्वोत्तम भेंट तो गुरु के दिये हुए साधन का अधिकाधिक विकास करने का प्रयत्न करना ही है। अब जरा यारी साहब के भाव भी देखें—

गुरु के चरण की रज लै के,
दोउ नैनन के बिच अंजन दिया।
तिमिर मेटि उजियार हुआ,
निरंकार पिया को देख लिया।

कोटि सूरज तहँ छिपे घने,
तीन लोक धनी धन पाई पिया।
सद्गुरु ने जो करी किरपा,
मरि के 'यारी' जुग जुग जिया ।।

यारी साहब कहते हैं कि गुरु के चरणों की रज लेकर अपनी दोनों आँखों में अंजन किया अर्थात् गुरु-कृपा से गुरु-शक्ति को ग्रहण कर अपनी अन्तर्चेतना को अन्तर्मुखी जागृत कर ज्ञान-चक्षुओं को उघाड़ दिया जिससे मेरे चित्त में छाया अन्धकार, वासना एवं विकार रूपी तिमिर हट गया। तब मैंने अपने चित्त में ही निराकार प्रभु के दर्शन किये। अर्थात् चित्त में संस्कार एवं अविद्या आदि पंच क्लेशों के आवरण शक्ति की क्रियाओं से क्षीण हो गये। चित्त-शक्ति पर पड़ा संस्कार आदि का मैल धुल गया, तब शक्ति अपने शुद्ध निर्गुण एवं मायातीत स्वरूप में मेरे समक्ष मेरे चित्त में ही प्रकट हो गयी।

तब मैंने अपने चित्त में छिपे कोटि-कोटि सूर्यों के सदृश्य आनन्ददायक एवं विस्मयकारी प्रकाश का अनुभव किया। बाह्य भौतिक सूर्य का प्रकाश उस अंतर प्रकाश की अपेक्षा नगण्य है। तब तो मैंने अपने चित्त में ही तीनों के धनी एवं उनके धन को प्राप्त कर लिया। ईश्वर का तत्त्व मेरे समक्ष प्रत्यक्ष हो गया। सद्गुरुदेव ने मेरे ऊपर जो कृपा की, उससे इस जगत् में जीवन धारण करने वाला 'यारी' तो मर गया, किन्तु अन्तर जगत् का यारी लौकिक जन्म-मरण से अतीत हो गया जो युगान्तरों अर्थात् अनंत काल तक जीवित रहेगा। संत कबीर के दोहे में गुरु-कार्य एवं गुरु-महिमा का वर्णन पढ़िये—

सद्गुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावन हार ।।

सद्गुरु की महिमा अनंत है। उसका बखान नहीं किया जा सकता। गुरुदेव ने मुझ पर उपकार किया है। उन्होंने मेरी सीमित दृष्टि को अनंतता प्रदान की है।

मैं उनकी कृपा के फलस्वरूप ही उस अनन्त परमात्मा के दर्शन करने में सक्षम हो सका।

परमात्मा की तरह गुरु की कृपा भी अनन्त होती है। वे जीवों पर उपकार भी अनन्त करते हैं। गुरुशक्ति की अन्तर्मुखी जागृति होने पर क्रियाओं के द्वारा जैसे-जैसे संस्कार क्षीण होते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे जीव की बुद्धि में सीमित विचारों एवं दृष्टिकोण के स्थान पर उदारता एवं अनन्तता विकसित होती जाती है। इस जगत् में सभी पदार्थों की सीमाएँ हैं। जीव की इन्द्रियों की भी देखने, सुनने अथवा स्पर्श करने की सीमाएँ है। जब जीव सीमाओं से ऊपर उठ जाता है तो उसके अन्तः चक्षु खुल जाते हैं जो ईश्वरीय शक्ति के शुद्ध एवं अनन्त स्वरूप का अनुभव कराने में सक्षम होते हैं। यह गुरुदेव की महती कृपा का ही फल है।

सतगुरु लई कमाण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाहया प्रीति सूँ, भीतरि रह्या शरीर ॥६

सद्गुरु धनुष धारण कर प्रेम-बाण चलाने लगे। मुझे तो प्रेमपूर्वक एक बाण लगा कि जो शरीर में ऐसा प्रविष्ट हो गया कि मेरा आवागमन छूट गया। मैं उस मार को भूल ही नहीं सकता जिससे जीवनपर्यन्त होश आ गया।

धनुष से प्रेम-बाण चलाने का अर्थ गुरु की चित्तशक्ति का शिष्य की चित्तशक्ति को प्रभावित करने से है। इसी को शक्तिपात कहा जाता है। गुरुशक्ति का शिष्य की चित्त-शक्ति

पर पात होने से शिष्य का चित्त गुरु-शक्ति से बिंध जाता है अर्थात् शिष्य की चित्तशक्ति अन्तर्मुखी प्रतिप्रसव क्रम में जागृत एवं प्रकाशित हो उठती है। तब अपने अंतर में उस शक्ति की अलौकिक क्रियाओं के प्रत्यक्ष अनुभव करने पर शिष्य के चित्त में परमप्रेम का भाव जागृत हो जाता है। इसीलिए गुरु की चित्तशक्ति को प्रेमबाण कहा गया है।

सतगुरु सांचा सूरिवाँ सबद जु बाध्या एक।
लागत ही में मिलि गया, पड्या कलेजे छेक ।।७

सद्गुरु के शब्दोपदेश एवं नामदान की चोट मेरे हृदय पर ऐसी लगी कि सारा मैं-पन तथा अभिमान नष्ट हो गया और मेरे हृदय में छेद हो गया। अतः सद्गुरु ही सच्चे सूरमा हैं।

गुरुशक्ति शिष्य की चित्तशक्ति पर ऐसी चोट करती है कि शिष्य अपने जीवन को एक दम परिवर्त्तित अनुभव करने लगता है। पहले वह अपने द्वारा किये गये प्रत्येक कर्म में कर्त्तापन की भावना रखता था, झूठा अभिमान करता था। अब उसे अपने चित्त में अपनी इच्छा से स्वतन्त्र ईश्वरीय शक्ति की क्रियाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति आरम्भ हो जाती है। वह दृष्टाभाव से उन क्रियाओं का अनुभव करता है। उस का कर्तृत्वाभिमान गलने लगता है। उसे ऐसा ज्ञान ही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है कि करने वाला वह नहीं, वरन् ईश्वरीय शक्ति है। तब उसके चित्त में एक ऐसा छेद हो जाता है जिसमें से उसका सारा कर्तृत्वाभिमान बाहर निकलने लगता है। कर्तृत्वाभिमान गलने के उपरान्त उसके चित्त में सञ्चित संस्कार क्रियाओं के माध्यम से क्षीण होते जाते हैं अर्थात् उस छेद के रास्ते बाहर निकलते जाते हैं जिससे

शिष्य का चित्त शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है और उसके प्रियतम परमेश्वर उसके चित्त में ही प्रकट हो जाते हैं।

इस प्रकरण के अन्त में महाराष्ट्र के महान् भक्त श्री ज्ञानेश्वर महाराज एवं श्री एकनाथ महाराज के उद्धरण देना अप्रासंगिक न होगा। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज की ओजमयी तथा आनन्दकारी वाणी का आनन्द उठाइये—

नाही ते जली बुडिजे, तैं घन वटे जेणे तारिजे।
जेणे तरलियाहि नुरिजे, कवणिये ठायीं ॥२१
आकाश हे सावेव, न बँधे आकाशाचि हांव।
ऐसे कोण्ही येक भरीव, आकाश जो ॥२२
चन्द्रादि सुसीतलें, घड़ली जयाचेंने मेने।
सूर्य जया चेनि त्रासे, उजावे कडु वसेनि दरो ॥२३
जीवपणा चेनि त्रासे, यावया आपुलिये दशे।
शिव ही मुहूर्त पुसे, जया जोसि याते ॥२४
चांदिणे स्वप्रकाशाचे लोइला द्वेत दुणी चे।
तरही उपडेपण न वचे, चांदा चे जया ॥२५

कल्पित अस्तित्वहीन जल में डूबते हुए शिष्य को श्री गुरु महाराज ठोस रूप हो कर तार देते हैं। आकाश सावयव है, अतः वे आकाश की तुलना में नहीं बँधते। गुरु तो घनीभूत स्वरूप हैं। गुरु इतने शीतल हैं कि जगत् को शीतलता प्रदान करने वाले नक्षत्रादि भी मानों उन से ही शीतलता ग्रहण करते हैं। सूर्य जिन किरणों से प्रकाशित होता है, वे गुरु ही हैं। जीवत्व से त्रस्त होकर पुनः शिवभाव प्राप्त करने के लिए शिव भी गुरुस्वरूप ज्योतिषी से ही मुहूर्त्त पूछते हैं। श्री गुरुस्वरूप चन्द्रमा स्वप्रकाश की द्वैत रूपी चाँदनी की चादर ओढ़ लेते हैं, किन्तु फिर भी उनका स्पष्ट स्वरूप ढका नहीं जा सकता।

उपरोक्त अभङ्ग से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सन्त ज्ञानेश्वर महाराज की कल्पना के गुरु कोई सामान्य देहधारी गुरु नहीं हैं, अपितु वह गुरु तो स्वयं ईश्वर ही है। योग दर्शन में कहा भी है—

'स एषाः पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात् ।'

वह गुरुओं का भी गुरु है जिसका काल से अवच्छेद नहीं होता। स्पष्टतः ही जन्म-मरण एवं जरा-मृत्यु से ग्रस्त कोई भी जीवधारी गुरु इस अवस्था को नहीं पहुँचता। यहाँ वर्णित गुरु ऐसा होना चाहिए जिस की शक्ति से अग्नि प्रज्ज्वलित होकर सांसारिक वस्तुओं को जला डालने की क्षमता रखती है, जिसके प्रकाश से प्रकाशित होकर सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है और जिसकी शीतलता से शीतल होकर चन्द्रमा ज्योत्स्ना का प्रसार करता है। पंचभौतिक तत्व जब मनुष्य की बुद्धि की पकड़ में नहीं आते तो उन्हें अनन्त कह दिया जाता है। किसी समय समुद्र को अनन्त माना जाता था, किन्तु अब आधुनिक विज्ञान ने समुद्रों को नाप कर सीमित कर दिया है जिस से उस की अनन्तता समाप्त हो गयी है। अभी तक आकाश विज्ञान की पकड़ में नहीं आया है। परिणामतः अनन्त के प्रतीक के रूप में उस का प्रयोग किया जाता है, किन्तु कल्पना करने पर एक बात बार-बार आती है कि अन्ततः आकाश तत्त्व भी पंच महाभूतों में से ही एक है। जिस प्रकार अन्य सभी तत्त्वों की सीमा है, उसी प्रकार आकाश तत्त्व की भी कोई-न-कोई तो सीमा होगी ही, भले ही वह सामान्य संसारी मनुष्यों की पकड़ में न आती हो। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज सरीखे उच्च आध्यात्मिक महापुरुषों की दृष्टि इतनी विशालता ग्रहण कर लेती है कि उनके समक्ष आकाश की कल्पित अनन्तता सीमाबद्ध होकर

प्रत्यक्ष हो जाती है। वे आकाश सरीखे सूक्ष्म तत्व को भी स्पष्ट देखने लग जाते हैं। उन की ये बातें सामान्य संसारी कवि की मानसिक उड़ान प्रतीत होती हैं। किन्तु सन्त ज्ञानेश्वर सामान्य कवित्व की कोटि के नहीं। वे तो चैतन्य तत्व के पारखी दिव्य एवं अलौकिकता के मूर्त्ति रूप हैं।

गुरुतत्व अथवा ईश्वर ही प्रसवक्रम में जगदाभिमुखी नीचे उतरते हुए माया एवं गुणों के अन्तर्गत जीवत्व धारण करते हैं। जगत् में आसक्त होने से सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, जीवरूपी ईश्वर तत्व में ही जगत्-बन्धन से छुटकारा पाने की तड़प उत्पन्न होती है। द्वैत से ग्रस्त जीवभाव अद्वैतरूपी गुरु तत्व की शरण ग्रहण कर, उन से मार्ग-दर्शन एवं शक्ति ग्रहण कर, भव-बन्धन से छूटने का प्रयत्न करता है। इसे सन्त ज्ञानेश्वर ने यहाँ पर जीवरूपी शिव का गुरु से बन्धनमुक्त होने का मुहूर्त अर्थात् मार्ग एवं उपाय पूछना कहा है। ईश्वररूपी श्री गुरुदेव की स्थिति ऐसी है कि द्वैत भाव में आने पर भी उन का सनातन अद्वैत भाव खण्डित नहीं होता। जिस प्रकार चन्द्रमा स्व-प्रकाशित ज्योत्स्ना की ओढ़नी ओढ़ कर अदृश्य नहीं होता, इसी प्रकार श्री गुरुदेव भी जगत् का निर्माण कर, जगत् के रूप में ही फैल कर जगत् के माध्यम से ही अपने अस्तित्व को प्रकाशित करते हैं। गुरुदेव देखने का नहीं, अपितु दर्शाने का माध्यम बनते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य जगत् के कण-कण में प्रतिबिम्बित गुरु अर्थात् ईश्वर तत्व को देखने के लिए ज्ञान-चक्षुओं को उन्मीलित करे।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च सत्ता ईश्वर को ही यहाँ गुरु कहा गया है। जगत् के बन्धन को तोड़ने में सक्षम ज्ञान इस अलौकिक गुरु से ही प्राप्त होता है।

वही सर्वोच्च सत्ता गुरु-शरीर में जागृत होकर शिष्यों के कल्याणार्थ कार्य करती है एवं इसी के कारण सूर्य, चन्द्रमा, तारे इत्यादि ज्योतियाँ प्रकाशित होती हैं। जल एवं वायु प्रवाहित होते हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि जीव उसी के संयोग से विविध व्यवहार करते हैं। वही माया के अन्तर्गत तीनों गुणों में बँधकर जीवत्व धारण करता है तथा उसी की कृपा से जीव में कार्यरत उसी की शक्ति प्रतिप्रसव क्रम में जागृत होकर चित्त-शुद्धि का कार्य सम्पादित करती हुई माया में बद्ध जीव को बन्धनमुक्त भी करती है। यही मूल तत्व की महानता है।

अब एक दृष्टि श्री एकनाथ महाराज के निम्न पद पर भी डालिए—

ॐकाररुपा सद्गुरु समर्था। अनाथांच्या नाथा तुज नमो ॥१
नमो मायबापा गुरु कृपाघना। तोडी या बंधना माया मोहा ॥२
मोहोजाळ माझे कोण निरशील। तुजविण दयाला सद्गुरुराया॥३
सद्गुरुराया माझा आनंदसागर। त्रैलोक्य आधार गुरुराव ॥४
गुरुराव स्वामी असे स्वयंप्रकाश। ज्यापुढे उदास चंद्ररवी ॥५
रवि शशि अग्नि नेणती ऽया रूपा। स्वयं प्रकाशरुपा नेणे वेद ॥६
वेदा पडलें मौने शास्त्रें वेडावली। वाचा हे निमाली ते श्रीगुरु ॥७
श्रीगुरु पोह जयासी कृपा दृष्टि। तयासी हे सृष्टि पांडुरंग ॥८
पांडुरंग माझा दीनां मायबाप। नासी सर्व पाप भाव दुजा ॥९
दुजेपणा ठाव नाही जया रुपी। तेथे आपोआपी मन रंगे ॥१०
रंगे चित्त माझे सद्गुरु चरणी। स्वरूप निर्वाणी होय गति ॥११
गति अधोगति दोन्ही या नासती। सद्गुरुंची मूर्त्ति ध्याता मनी॥१२
मनी वसे ज्याच्या सद्गुरुदयाळ। तयासी सकळ सिद्धि हाली ॥१३
हाती मोक्ष परी वावड त्या ढायी। सद्गुरुच्या पायी बुद्धि राहे ॥१४
राहे गुरुगृही सदा सर्वकाळ। परब्रह्मी केवल होय जागा ॥१५

जागा शिष्य चित्त सद्गुरु वसती । कैसी असे स्थिति शमदमी ।।१६
शमादिकी चित्त जयाचे निर्मळ । तेथे तो गोपाळ प्रभु वसे ।।१७
प्रभुराज माझा स्वामी गुरुराव । देतो मज भाव शुद्ध भूमि ।।१८
भूमि शुद्ध करी ज्ञानबीज पेरी । अद्वैत हे धरी मी तू नेणे ।।१९
नेणे मी तू काही द्वैताद्वैत भाव । एक स्वयमेव आत्मा इति ।।२०
इतिकर्तव्यता हीच दासा लागी । माया गुणसंगी नाश तिचा ।।२१
तिचा नाश करणें हाच एक थोरु । करिता सद्गुरु उपकार ।।२२
उपकारा ज्यांच्या नोहे उतराई । ठेवी जीव पायी थोडा पाहा ।।२३
पाहा गुरुराये ब्रह्मा दाखविले । अखंड स्मरविले मज नाम ।।२४
नाम निरामय अज अविनाशी । प्रिय ते मानसी सदा मज ।।२५
मजलागी माझी सद्गुरु माऊली । करी कृपा साउली वर्णू काय ।।२६
काय वर्णू माझ्या सद्गुरु दयाळा । बहुत कळवळा दासा यया ।।२७
यया दासा मनी सद्गुरुचें ध्यान । झालासे तल्लीन गुरुपायी ।।२८
एका जनार्दनी गुरु परब्रह्मा । तयाचें पै नाम सदा मुखी ।।२९

ॐकारस्वरूप, समर्थ एवं अनाथों के नाथ श्री सद्गुरुदेव आप को मेरा प्रणाम हो। मातृ-पितृस्वरूप कृपालु गुरुदेव मेरे माया और मोह के बन्धन काट कर मुझे मुक्त कीजिये अर्थात् आपकी शक्ति मेरे चित्त में क्रियाशील होकर माया तथा मोह के कारणरूप संस्कारों को विनष्ट कर वासना को क्षीण कर दे जिससे मेरा चित्त शुद्ध हो जायेगा तथा माया-मोह का बन्धन कट जायेगा। हे त्रैलोक्य के आधार एवं आनन्द के सागर गुरुदेव ! आपके बिना इस मायाजाल से कैसे छुटकारा पाऊँगा, क्योंकि जगत् में कोई भी पदार्थ, परिस्थिति एवं प्राणी शोकातीत एवं नित्य नहीं है।

मनुष्यमात्र मेरी ही तरह माया के बन्धन से जकड़ा हुआ है, फिर कोई भी मुझे इस बन्धन से छुड़ाने में समर्थ कैसे हो

सकता है ? आप स्वयं-प्रकाशित हैं तथा आपके तेज के समक्ष रवि-शशि अधोमुख हो जाते हैं, क्योंकि वे तो आप से ही प्रकाशित होते हैं। वे आपके सम्मुख ऊँचा उठकर कैसे ठहर सकते हैं ? आपके स्वयंप्रकाश स्वरूप को वेद भी नहीं बता सकते। श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ भी मौन रह जाती हैं। श्रीसद्गुरु जिसकी ओर कृपादृष्टि से निहारते हैं, उन्हें परमात्मा पाण्डुरङ्ग के प्राप्त होने में कोई विलम्ब नहीं होता। आप की दृष्टि के साथ ही आपकी शक्ति भक्त के शरीर में प्रविष्ट होकर उसकी चित्तशुद्धि का कार्य आरम्भ कर देती है। जहाँ चित्त शुद्ध हुआ कि भगवान् पाण्डुरङ्ग अन्दर से ही प्रकट हो जाते हैं।

भगवान् पाण्डुरङ्ग तो माता-पिता के सदृश्य हैं जो भेद-बुद्धि का नाश करते हैं। उन्हें देखकर चित्त में एक ही भाव बनता है, चित्त में दूसरा विचार आता ही नहीं अर्थात् चित्त में भगवान् के प्रकट होते ही राग तथा द्वेष समाप्त होकर जगत् में सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है। भगवान् प्रत्यक्ष होने से चित्त में केवल भगवान् के प्रेम का ही भाव बना रहता है। सद्गुरु के चरणों में मेरा चित्त रम गया है। अब स्वरूप-ज्ञान (आत्म-ज्ञान) अवश्य ही होगा। सद्गुरु मेरे चित्त में आकर बैठ गये हैं। जो गुरुतत्व गुरु-शरीर में प्रकाशित है, वही मेरे अन्तर में भी प्रकाशित हो उठा है। उस के प्रति मेरे चित्त में प्रेम का भाव उदय हो गया है।

जिसके चित्त में सद्गुरु के चरण हैं, उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सर्वोत्तम सिद्धि समाधि की ही है। यह सिद्धि तो उसे प्राप्त होती ही है, क्योंकि गुरुशक्ति वासनाओं के कारणों को क्षीण करती हुई चित्त की शुद्धि करती है। मुक्ति

उस गुरुभक्त के पीछे-पीछे फिरती है, किन्तु उसमें उसकी रुचि ही नहीं रहती। उसे सद्गुरु-चरणों की पूजा ही अधिक भाती है। यहाँ समझने की बात यह है कि गुरुशक्ति के अन्तर्मुखी जागृत होने के पश्चात् गुरुचरण चित्त में स्थापित हो जाते हैं। बाह्य गुरुचरणों की बात यहाँ केवल प्रतीक रूप में कही गयी है। इसी प्रकार चरणों की पूजा का अर्थ अन्तर में जागृत गुरुशक्ति के प्रति समर्पणभावयुक्त होकर साधन करने से है। जिसके चित्त में सद्गुरु का वास है, वह निरन्तर परब्रह्म में ही स्थित है। भाव यह है कि उस व्यक्ति का अहंभाव अन्तर में जागृत चैतन्यरूप सद्गुरुदेव में स्थापित हो जाता है। चैतन्य अथवा शक्ति कभी प्रसुप्त नहीं होते, सदैव जागृत एवं क्रियाशील रहते हैं। ऐसा साधक प्रसुप्त अवस्था में भी जागृत ही रहता है। दादूदयाल ने कहा है—

दादू सोता सकल जगत्, जागा मिला न कोय।
जागे में फिर जागना, जागा कहिये सोय॥

ऐसा गुरुतत्व जागृत अवस्था में पुनः जागता है। उसके शरीर में निद्रा की क्रिया होती है जिसे वह जगत् की अन्य क्रियाओं की भाँति ही प्रत्यक्ष देखता है। उस भक्त के शम, दम आदि गुरुशक्ति की कृपा से चित्त के संस्कार क्षीण होने पर स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं। गुरुदेव मेरी मानसिक भूमिका बनाते तथा उस में ज्ञान का बीज आरोपित करते हैं जिसका फल अद्वैतानुभूति होता है। जीव की वास्तविक स्थिति अद्वैत ही है। द्वैत का भाव काल्पनिक है। गुरुशक्ति के चित्त में जागृत होने का अर्थ द्वैत के संचित संस्कारों एवं विचारों का नाश प्रारम्भ हो जाना है। अर्थात् गुरुशक्ति की अन्तर में जागृति का अर्थ चित्त में अद्वैत के बीज का आरोपित होना है। जैसे-जैसे

यह बीज अंकुरित होकर वृक्ष का रूप ग्रहण करता है, वैसे-ही-वैसे संचित संस्कारों एवं वासनाओं का नाश होता जाता है। उर्दू के एक कवि ने कहा है—

यह निहाल शोलाए-इश्क का मेरा बढ़ के सर-बफलक हुआ।
मेरी काय हस्ति ने मुश्तइल हो उसे यह नश्वोनुमा दिया ।।

मैंने भक्ति का जो पेड़ लगाया था, वह बहुत बड़ा हो गया है। उसकी चोटियाँ आकाश से जा मिली हैं। यह इतना बड़ा कैसे हो गया ? मैंने अपने शरीर को गला कर अस्थियों के रस से इसकी सिंचाई की है जिससे यह इतना बड़ा हो गया है। अर्थात् बीज रूप में आरोपित श्रीगुरुदेव की शक्ति चित्त में अंकुरित होना आरम्भ होती है तो संस्कारों एवं वासनाओं को खाती जाती है। जितनी अधिक मात्रा में संस्कार भस्म होते जाते हैं, उतनी ही अधिक भक्ति के इस वृक्ष की सिंचाई होती है और यह बड़ा होता जाता है। भक्त के चित्त में स्थिर विराजमान गुरुदेव के प्रति प्रेम का भाव बढ़ता जाता है। एक समय ऐसा आता है जब वह भक्त पारमार्थिक दृष्टि से जगत् में बहुत ऊँचा उठ जाता है और सामान्य संसारीजन उस के समक्ष बहुत बौने दिखायी देते हैं। गुरुदेव, मैं और तुम—सभी समान हो जाते हैं एवं सर्वत्र एक आत्मा ही व्याप्त दिखायी देता है।

भाव यह है कि जो पराशक्ति गुरु-शरीर में जागृत एवं प्रकाशित होती है, वही परा चैतन्य शक्ति जब शिष्य में भी अन्तर्मुखी जागृत होकर क्रियाशीला हो जाती है, तब गुरु एवं शिष्य दोनों में एक ही विट्ठल भगवान् प्रकाशित एवं कार्यशील होते हैं। जैसे-जैसे शिष्य साधना करता जाता है, उस के संस्कार तथा वासनाएँ क्षीण होती जाती हैं और विठ्ठल पाण्डुरङ्ग उसके

अन्तर में अधिकाधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष होते जाते हैं। तब गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भौतिक धरातल से ऊपर उठता जाता है। दोनों का परस्पर सम्बन्ध शक्ति एवं भक्ति के आधार पर आध्यात्मिक होता है। जब शिष्य का चित्त गुरु-शक्ति की सेवा करते-करते पूर्णरूपेण शुद्ध होकर माया का आवरण हट जाता है, तब साधक को अपने ही नहीं, गुरु के अन्दर भी आत्मतत्त्व के ही दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, जगत् के प्रत्येक प्राणी, मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि सभी में वह आत्मतत्व के ही दर्शन करता है। ऐसे गुरु-भक्त के समक्ष नाम-रूपात्मक जगत् गौण हो जाता है एवं जगत् का आधार चेतन आत्मा उसके समक्ष प्रत्यक्ष हो उठता है। यह गुरु-कृपा के फलस्वरूप ही होता है।

गुरुशक्ति के प्रत्येक भक्त की यही अभिलाषा होती है कि किसी प्रकार माया का जाल कट जाये। माया के आवरण को हटाना सद्गुरु का भक्त पर बहुत बड़ा उपकार होता है। इसके बदले में शिष्य अपने सद्गुरु को दे क्या सकता है? यह दृश्यमान जगत् तो गुरुशक्ति का ही पसारा है। इस मिथ्या जगत् के कुछ पदार्थ नित्य अपरिवर्तनीय गुरुतत्व को भेंट करना तो निरर्थक एवं हास्यास्पद ही है। गुरु के उपकार के बदले में अपने प्राण न्यौछावर करने वाले बहुत कम हैं। गुरुदेव ने मुझ से अखण्ड नामस्मरण करवाया और ब्रह्म दिखाया है अर्थात् नाम की शक्ति को मेरे चित्त में क्रियाशीला बनाकर उसे प्रतिक्षण मेरे समक्ष उपस्थित कर दिया है जिससे मुझे उसका स्मरण हर समय बना रहता है। मेरे लिए तो मेरे सद्गुरुदेव ही मेरी माता हैं जिनकी कृपा-छाया का मैं भला क्या वर्णन कर सकता हूँ? यह दास मन में सद्गुरु का ही ध्यान करता है तथा उसी में तल्लीन होता है। एकनाथ महाराज कहते हैं कि सद्गुरु ही परब्रह्म हैं। उन्हीं का नाम मेरे मुख में सदैव रहे।

श्री शुकदेव के शिष्य तथा प्रसिद्ध सन्त सहजोबाई के गुरु श्री चरनदास के उद्‌गार सुनिए—

गुरु हमरे प्रेम पियायौ हो।
ता दिन तें पलटो भयौ, कुल गोत नसायौ हो ॥१
अलम चढ़ौ गगनै लगौ, अनहद मन छायौ हो।
तेज पुंज की सेज पै, प्रीतम गल लायौ हो ॥२
गये दीवाने देसड़े, आनंद दस सायौ हो।
सब किरिया सहजै छुटी, तप, नेम भुलायौ हो ॥३
त्रेगुन ते ऊपर रहूँ, सुकदेव बसायौ हो।
चरनदास दिन रैन नहिं, तुरिया पद पायौ हो ॥४

हमारे गुरु महाराज ने हमें प्रेम पिलाया है। उसी दिन से मेरी वृत्ति, विचार, व्यवहार इत्यादि में पलटा आ गया। कुल, गोत्र इत्यादि गौण हो गये। मेरी वृत्ति आकाश में चढ़ गयी है एवं अन्तर में उदित नाद के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है। मेरे अन्तर में तेज-पुञ्ज की सेज बिछी है जिस पर मेरे प्रियतम ने मुझे गले लगा लिया। अब तो दुःख के दिन बीत गये तथा अन्तर में आनन्द-ही-आनन्द भर गया। सब कर्म, धर्म स्वभावतः ही छूट गए। तप तथा नियम सभी विस्मृत हो गये। अब तो मैं तीनों गुणों से ऊपर रहता हूँ। मेरी ऐसी अवस्था मेरे गुरु-महाराज श्री शुकदेव की देन है। चरनदास कहते हैं कि मेरे समक्ष दिन एवं रात कुछ भी नहीं है, मेरी स्थिति तुरीय पद में प्रतिष्ठित है।

महात्मा चरनदास ने गुरु का महत्व कैसे सुन्दर शब्दों एवं भावों में व्यक्त किया है। गुरु महाराज ने मुझे दीक्षा देकर, मेरे अन्तर में आह्लादिनी शक्ति जागृत कर, कर्तृत्वाभिमान-युक्त भक्ति से ऊपर उठाकर मेरी स्थिति परा भक्ति में कर दी

है। अब तो मेरे मन में प्रेमानन्द की तरंगें उठती हैं। जिस दिन से मेरे ऊपर गुरु-कृपा की वर्षा हुई है, मेरा सभी कुछ परिवर्तित हो गया है। मेरे विचार, भाव, दृष्टि, वृत्तियाँ सभी अन्तर्मुखी हो गयी हैं। मेरा जीवन ही बदल गया है। मेरे लिए कुल-गोत्र, छोटा-बड़ा, धनी-निर्धन इत्यादि जगत् की उपाधियाँ सर्वथा गौण और चित्त में जागृत ईश्वरीय चैतन्य, परा शक्ति ही मुख्य हो गयी है। यह जगत् उसी की क्रिया मात्र दिखायी देता है।

अब तो मेरी वृत्ति जगत् के दृश्यों, विषयों अथवा प्राणियों के प्रति आकर्षित होने के स्थान पर चित्ताकाश की ओर ही आकृष्ट होती है। मेरे चित्त में भाँति-भाँति के अनहद नाद सुनायी देते हैं जिनमें मेरा मन तल्लीन रहता है। मेरे अन्तर में प्रकाश-ही-प्रकाश है। एक सीमा-रहित अनन्त सौन्दर्ययुक्त सेज बिछी है जिस पर मैं अपने प्यारे प्रियतम के साथ बिहार करता हूँ। यहाँ गले लगने का अर्थ सामीप्य मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के बीच की स्थिति है। जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन अथवा शिव-शक्ति के संयोग को यहाँ शृङ्गारिक दृष्टि से दर्शाया गया है। इस स्थिति में जगत् एवं विषयों का सुख आन्तरिक आनन्द की अपेक्षा सर्वथा हेय होता है।

जब तक मेरी वृत्ति जगदाभिमुखी आसक्त थी, तब तक मैं सुख-दुःख अथवा हानि-लाभ में ही विचरता था। किन्तु अब मेरे वे दुःखदायक दिन बीत गये हैं। उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो गयी है। मेरे मन में आनन्द-ही-आनन्द भरा है। सभी बहिर्मुखी कर्म छूट-से गये हैं। कोई रूचि शेष रही ही नहीं। पूजा, पाठ, जप-तप एवं नियम आदि में भी मन नहीं लगता। मैं अपने आपको तीनों गुणों से अतीत अनुभव करता हूँ। मेरी

यह स्थिति मेरे गुरुमहाराज शुकदेव जी की कृपा से ही सम्भव हो पाई है। उन्होंने ही मुझे इस त्रिगुणातीत अवस्था में पहुँचाया है। चरनदास जी कहते हैं कि अब तो मुझे दिन-रात, सुख-दुःख, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता, शीतोष्ण इत्यादि का कुछ पता ही नहीं लगता। मैं अपने में ही आनन्दित हूँ। अब तो मुझे तुरीय अवस्था की प्राप्ति हो गयी है जिसमें चित्त जगत् के प्रभाव को ग्रहण ही नहीं करता। चित्त आत्मा के स्वाभाविक गुणों में अवस्थित रहता है, जगत् का नाम-रूपात्मक स्वरूप गौण हो गया है तथा अपनी चेतन सत्ता ही जगत् में फैली हुयी अनुभव होती है। इसे तुरीय अवस्था कहा जाता है जिसकी प्राप्ति का संकेत चरनदास जी ने यहाँ दिया है।

अन्तर्गुरु का प्रत्यक्षीकरण ही परा भक्ति

भक्ति का अन्तर में प्रत्यक्ष एवं निश्चित् अनुभव होना तथा उस के प्रति मन में प्रेम का भाव उदय हो जाना, जागृत गुरु तत्व के प्रति मन से प्रेमपूर्वक समर्पित हो जाना, गुरु-शक्ति द्वारा संचालित शरीर एवं चित्त की क्रियाओं में हस्तक्षेप न करना तथा बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता का विचार छोड़कर चित्त की सम स्थिति बनाये रखना ही परा भक्ति का स्वरूप है। इस स्थिति को प्राप्त करके मीराबाई भाव-विभोर हो गयीं—

म्हारे जनम-मरण का साथी थांने नहिं बिसरूँ दिन-राती ॥
थाँ देख्या बिन कल न पड़त है जानत मेरी छाती ॥
ऊँची चढ़-चढ़ पंथ निहारूँ रोय-रोय अँखियाँ राती ॥
यो संसार सकल जग झूठो, झूठा कुल रा न्याता ॥
दोऊ कर जोड्याँ अरज करूँ छूँ सुण लीजो मेरी बाती ॥
या मन मेरो बड़ो हरामी ज्यूँ मदमाती हाथी ॥
सतगुरु हाथ धर्‌यो सिर ऊपर आँकुस दे समझाती ॥

पल-पल पिव को रूप निहारूँ निरख-निरख सुख पाती ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणा दिन-राती ।।

आन्तरिक गुरु तत्व को सम्बोधित कर मीराबाई कहती हैं कि हे मेरे जनम-मरण के साथी ! तुझे मैं पल मात्र के लिए भी नहीं भूल पाती । तुझे देखे बिना मेरे हृदय में क्षण मात्र के लिए भी चैन नहीं पड़ता, इसे मेरा हृदय ही जानता है । ऊँचे-ऊँचे चढ़कर मैं पंथ निहारती हूँ । मेरे नेत्र रो-रो कर लाल हो गये हैं । यह सारा संसार मिथ्या है । सब रिश्ते-नाते भी कल्पित हैं । मैं दोनों हाथ जोड़कर निवेदन करती हूँ, आप मेरी बात सुन लें । यह चञ्चल मन बड़ा ही हरामी है । यह मदमाते हाथी की तरह मस्त है । सद्गुरु ने शिर पर हाथ रखकर इस मस्त हाथी को अंकुश से नियन्त्रित किया है । मैं प्रति पल अपने प्रियतम का नख-शिख रूप निहारती तथा सुख पाती हूँ । मीराबाई अपने प्रभु गिरधर नागर के चरणों में दिन-रात लीन रहती है ।

मीराबाई अन्तर में जागृत गुरु तत्व को सम्बोधित करती है कि हे मेरे जन्म-मरण के साथी ! मैं तुझे कभी न भूलूं । अर्थात् शक्तिरूपी इष्टदेव जब अन्तर में जागृत हो जाता है, तब वह प्रति क्षण भक्त के समक्ष उपस्थित एवं क्रियाशील रहता है । भक्त जब बोलता है तो अपने मुख के आधार पर उसकी क्रियाशीलता अनुभव करता है । इसी प्रकार उसकी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तर्गुरुतत्व से ही प्रत्यक्ष परिचालित दीखती हैं । सोना, जागना, सङ्कल्प-विकल्प करना, विचार या अभिमान उदय होना,—सभी कुछ इसकी क्रियाशीलता का ही परिणाम होता है । भक्त का सारा जीवन ही उस अन्तर्शक्ति की क्रियारूप ही हो जाता है । उस से प्रथक् भक्त में कोई

अन्य शक्ति रहती ही नहीं। इसी बात को मीराबाई यों कह रही हैं—'म्हारे जनम-मरण के साथी, थाँने नहिं बिसरूँ दिन-राती।' जीव का जन्म-मरण भी उसी शक्ति की क्रिया ही तो है।

यदि कभी भक्त का ध्यान कहीं अन्यत्र आकर्षित हो जाता है, उसके चित्त में अभिमान आ जाता है, तो उसका लक्ष्य शक्ति की क्रियाओं से हट जाता है। इस का ध्यान आते ही भक्त विचलित हो जाता है तथा पुनः अपनी चित्त-वृत्ति को शक्ति की क्रियाओं पर ही केन्द्रित करता है। भगवद्शक्ति अथवा अपने इष्टदेव का विस्मरण प्रेमी भक्त के लिए इतना दुःखदायी होता है कि उस वियोग की पीड़ा को कोई प्रेमी भक्त ही समझ सकता है।

भक्त की चित्त-स्थिति उत्तरोत्तर उच्च स्तरों पर रमण करती हुई प्रतिक्षण आत्मरूपी प्रियतम की अपरोक्षानुभूति की बाट जोहती है। इस प्रतीक्षा की उच्च अवस्था में उसे सारा नामरूपात्मक जगत् मिथ्या दिखायी देने लगता है। जगत् के रिश्ते-नाते भी झूठे प्रतीत होते हैं। सत्यस्वरूप प्रियतम की अलौकिक छटा ही उसे शान्ति प्रदान करती है। गुरु-शक्ति की प्रत्यक्ष क्रियाएँ भी चित्त को शान्त नहीं कर सकतीं। भक्त भगवान् के समक्ष गिड़गिड़ाता, नतमस्तक होता है, करबद्ध प्रार्थनाएँ करता है, आत्म-निवेदन करता है—'भगवन्! मेरी प्रार्थना सुन लीजिए!' प्रार्थना तथा आत्मसमर्पण के अतिरिक्त उसका कोई साधन नहीं होता क्योंकि शेष सभी साधन तो गुरु-शक्ति आह्लादिनी अथवा परा शक्ति की स्वाभाविक क्रिया रूपी परा भक्ति के ही स्वरूप होते हैं।

आगे मीराबाई अपने मन को कोसती हैं। जिस ईश्वरीय

शक्ति से युक्त होकर सङ्कल्प-विकल्प रूपी मन का अस्तित्व होता है, उसी ईश्वरीय शक्ति को भूलकर मन अभिमानग्रस्त हो कर अपने में कर्त्तापन के भाव का आरोप कर लेता है। मीराबाई गुरुशक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करने के उपरान्त भी मन की क्षणिकताओं से त्रस्त एवं सहमी-सहमी-सी प्रतीत होती हैं और मन को भला-बुरा कहती रहती हैं। वे ऐसे मन को मस्त हाथी की उपमा देती हैं। अपने आन्तरिक गुरुदेव की प्रत्यक्ष क्रियाशीलता रूपी आशीर्वाद के फलस्वरूप मन रूपी हाथी पर अंकुश लग जाता है, क्योंकि वह गुरुशक्ति कर्त्ताभाव छीनकर उसे दृष्टाभाव प्रदान करती है और स्वयं चित्त में संचित संस्कारों को क्रियाओं में परिणित कर उन्हें क्षीण करने के महत् कार्य में संलग्न हो जाती है। इस प्रकार सद्गुरुदेव की महती कृपा से मन पर अंकुश लग जाता है।

आत्मारूपी प्रियतम की प्रतिबिम्बरूपी चैतन्यशक्ति की क्रियाओं को हर समय देखकर मीराबाई को परम आनन्द की अनुभूति होती है। वे क्रियाओं में मस्त हो कर कभी नाच उठती हैं, कभी एकतारा एवं करताल उठा लेती हैं तथा भगवद्-प्रेम के पद उनके अन्तर से प्रवाहित होने लगते हैं। नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। किन्तु उस रुदन में भी वे आनन्द का ही अनुभव करती हैं। इस प्रकार मीराबाई दिन-रात अपने प्रभु गिरधर नागर के प्रेम में ही मस्त रहती हैं। इसके अतिरिक्त न तो उन्हें कुछ दिखायी ही देता है और न ही किसी बात में रुचि ही है।

मीराबाई गुरु की प्रत्यक्ष अनुभूति इस पद में कहती हैं—

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे ।।
मैं तो अपने नारायण की आपही होगई दासी रे ।
लोग कहैं मीरा भई बावरी न्यात कहै कुल नासी रे ।।
विष का प्याला राणाजी भेज्या, पीवत मीरा हाँसी रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे ।।

अर्थात् मीरा अपने पाँव में घुँघरू बाँध कर नाच उठी । मैं तो अपने नारायण की स्वयं ही दासी हो गयी । लोग कहते हैं कि मीरा पागल हो गयी है । रिश्ते-नाते वाले मुझे कुल का नाश करने वाली बताते हैं । राणाजी ने विष का प्याला मेरे लिए भेजा जिसे मैंने हँसते-हँसते पी लिया । मीराबाई कहती हैं कि मुझे तो मेरे अविनाशी प्रभु गिरधर नागर सहज तथा स्वाभाविक रूप में मिल गये हैं ।

भाव यह है कि मीराबाई स्वयं को भगवान् के समक्ष नृत्य करते हुए अनुभव करती थी । मीरा नहीं गातीं, वरन् भगवान् ही उनके चित्त और तानपूरे में बैठकर गाते थे,—तानपूरा, करताल एवं शरीर तो केवल मात्र माध्यम होते थे । उसके मन, शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि तथा शरीर की प्रत्येक क्रिया वास्तव में उसके अन्तर में जागृत गुरुतत्व की ही क्रियाएँ होती थीं । ऐसी अवस्था में कई क्रियाएँ कुल की मर्यादा के विपरीत भी हो जाती थीं जिनसे लोल उसे पगली एवं कुलघाती कहते थे । विष का प्याला पी जाने पर भी उसकी मृत्यु नहीं हुई, क्योंकि उसके शरीर में अमरत्व प्रदान करने वाली गुरु शक्ति जागृत थी जिसे मीरा ने अविनाशी अर्थात् स्वाभाविक मिलन कहा है । शक्ति जागृत होने पर मन से स्वतन्त्र क्रियाएँ सम्पादित करती है जिन्हें सहज स्वाभाविक क्रियाएँ कहा जाता है ।

अब भक्त कबीर का गुरु-दर्शन देखिए :—

अब तोहि जान न दैहूँ राम पियारे।
ज्यूँ भावे त्यूँ होइ हमारे ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये,
भाग बड़े घरि बैठे आये ॥
चरननि लागि करौ बरियाई,
प्रेम प्रीति राखौ उरझाई ॥
इत मन मंदिर रहौ नित चौषे।
कहै कबीर परहु मति धोषे ॥

अर्थात् हे मेरे प्यारे राम ! अब मैं तुम्हें जाने नहीं दूंगी। तुम मुझे चाहे जैसे भी रक्खो, किन्तु मेरे होकर रहो। मैंने बहुत दिनों के अपने बिछुड़े हुए प्रियतम को दोबारा प्राप्त किया है। मेरा बड़ा सौभाग्य था कि मैंने घर बैठे ही तुझे प्राप्त कर लिया। मैं राम के चरणों में पड़कर उनके गुणगान करूँ। उनके प्रति अपने प्रेम को अपने हृदय में सम्हाल कर रक्खूँ। हे राम ! आप मेरे मन-मन्दिर में अच्छी प्रकार रहिए। कबीर कहते हैं कि आप किसी धोखे में नहीं आयें।

भाव यह है कि शक्ति-जागृति के उपरान्त गुरुदेव के प्रत्यक्ष होने पर भक्त उसे पुनः अदृश्य नहीं होने देना चाहता। गुरु-शक्ति चाहे जैसी भी क्रिया करे, उसे करने देता है। न तो अपनी ओर से किसी क्रिया विशेष के होने की इच्छा करता है और न ही किसी होती हुई क्रिया को रोकता ही है। किन्तु भक्त के मन में यह भय बना रहता है कि शक्ति की क्रियाएँ कहीं बन्द न हो जायें।

युग-युगान्तर एवं जन्म-जन्मान्तर से गुरु-शक्ति प्रसवक्रम में ही प्रवाहित होती तथा इन्द्रियों से अभिन्न ही अनुभव में आती रही है। अब आकर शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई है। मैं

अपने से बाहर प्रभु की कल्पना करके तीर्थों में भटका, मन्दिरों में शिर पटका, सत्सङ्ग किये, जप-जप कर मालाएँ घिसीं, शास्त्रों के पन्ने उलटे तथा पीर-पैगम्बरों के आगे माथा रगड़ा। किन्तु सद्गुरुदेव की कृपा से मेरे घर अर्थात् हृदय में ही मुझे मेरे प्रियतम प्राप्त हो गये। अब तो मैं गुरुदेव के चरण-कमलों का ही गुणानुवाद करता हूँ अर्थात् गुरु-शक्ति को अपने अन्तर में क्रियाशीला होने का पूर्ण अवसर प्रदान करता हूँ। जैसे-जैसे मेरे चित्त में गुरु-शक्ति की अलौकिक तथा विस्मयकारी क्रियाएँ प्रकट होती हैं, उन्हें देख-देख कर गुरुदेव के प्रति मेरा प्रेम द्विगुणित होता जाता है। अतः, हे मेरे सद्गुरुदेव ! हे मेरे प्रिय राम ! आप आनन्द से मेरे मन-मन्दिर में सतत् प्रकाशित एवं क्रियाशील रहिए। आप मेरे चित्त में सञ्चित बहिर्मुखी संस्कारों एवं वासनाओं के झंझावात में अपनी क्रियाशीलता मन्द अथवा द्वन्द न होने दें। यही कबीर की आपसे नम्र प्रार्थना है।

कहने का भाव यह है कि परा भक्ति में ईश्वरीय शक्ति, गुरुतत्व अथवा आह्लादिनी शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति एवं क्रियाशीलता प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य होनी चाहिए। तभी भक्त की भक्ति परा भक्ति का रूप ग्रहण करती है।

दरिया साहब कहते हैं—

बाबुल कैसे बिसरो जाई।
यदि मैं पति संग रल खेलूँगी, आपा धरम सगाई ॥
सतगुरु मेरे किरपा कीनी, उत्तम वर परणाई।
अब मेरे सांईं को सरम पड़ेगी, लेगा हृदय लगाई ॥
ये जानराय, मैं बाली-भोली, ये निरमल, मैं मैली।
ये बतलाओ, मैं बोल न जानूँ, भेद न सकूँ सहेली ॥

ये ब्रह्मभाव, मैं आतप कन्या, समझ न जानूँ बानी।
दरिया कहै पति पूरा पाया, यह निश्चै कर जानी॥

हे बाबुल ! मैं उनको कैसे भूल सकती हूँ ? मैं तो अपने पति (स्वामी) के साथ ही खेलूँगी जिनके साथ मेरा धर्म का सम्बन्ध जुड़ा है। सद्गुरु ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है कि मेरा परिणय-बन्धन उत्तम वर से हुआ। अतः (क्योंकि मैं उनके प्रति समर्पित हूँ) वे अपने नाम की महिमा अथवा मर्यादावश ही मुझे अपने गले लगा लेंगे। वे तो ज्ञानी हैं। मैं तो बोलना भी नहीं जानती। उस ज्ञान के रहस्य को मैं नहीं जान सकती। वे तो ब्रह्मभाव रूप हैं और मैं तो सीधी-सादी तप से रहित एक कन्या हूँ। उनकी वाणी मैं नहीं समझ सकती। दरिया साहब कहते हैं कि मैंने निश्चयपूर्वक जान लिया है कि मैंने पूरा पति (पूर्ण रूपेण स्वामित्व) प्राप्त कर लिया है।

यारी साहब संसाररूपी बाबुल के प्रति अपने भाव प्रकट करते हैं। वे इस जगत् से ऊपर उठना चाहते हैं। जब तक जीव अपने अहङ्कार को समाप्त कर पति परमेश्वर के साथ साक्षात्कार नहीं करता, तब तक उस का इस जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद भी पूर्णतया नहीं होता। यह सम्बन्ध-विच्छेद इसलिए आवश्यक है कि जब तक जीव इसके प्रति आसक्त रहेगा, वह सुख-दुःख के बन्धन से कभी भी छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकेगा। प्रस्तुत पद में प्रसिद्ध सन्त दरिया साहब ने उक्त बात को शृङ्गारिक ढङ्ग से समझाने का प्रयत्न किया है तथा जीवात्मा रूपी पत्नी को परमात्मारूपी पति के साथ मिलकर खेलने की बात कही है जिसके लिए चित्त में विद्यमान अहङ्कार को मिटाना अनिवार्य है; क्योंकि यही दोनों के बीच में आवरण

(दीवाल) है। बहादुरशाह ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

दिया अपनी खुदी को जो हमने उठा।
वह जो परदा-सा बीच में था, न रहा॥
रहे परदे में अब न वो परदानशीं।
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा॥

अर्थात् जब हमने अपने अहङ्कार को समाप्त कर दिया तो भक्त भगवान् के बीच का आवरण (परदा) हट गया और जो घूँघट (परदे) में था, वह सामने आ गया। तब हमने देखा कि जगत् में उसको छोड़कर और कोई दूसरा तो है ही नहीं। सारा संसार उसी का रूप है, वही है। जब तक हम अपने अहङ्कार का परदा अपने चित्त पर डाले हुए थे, तब तक हमको जगत् में नानात्व दिखायी दे रहा था। यथार्थ में भगवान् परदे के अन्दर नहीं बैठा है; अपितु जीवों ने अपने चित्त को अहङ्कार के परदे से ढका हुआ है। अतः नामरूपात्मक जगत् तो दिखायी देता है, भगवान् दिखायी नहीं देते।

उपरोक्त पद में दरिया साहब इसी अहङ्कार को हटाने की बात कहते हैं। जब मेरे सद्गुरुदेव ने मुझ पर कृपा कर मेरा विवाह उत्तम वर से करा दिया तब इस अहङ्कार के मिटने का भी समय आ गया। अर्थात् मेरे पति परमेश्वर की चैतन्य-रूपात्मक पराभक्ति को मेरे चित्त में जागृत कर मुझे यह अनुभव करा दिया कि क्रिया करने वाली शक्ति मुझ से भिन्न और प्रत्यक्ष है। तब मेरा मन कर्तृत्वाभिमान त्याग कर दृष्टा-भाव में स्थित हो गया। मेरे अन्दर जागृत शक्ति मेरे संस्कारों के आधार पर कार्यशीला हो उठी। मेरे चित्त के संस्कारों को विनष्ट कर उसने चित्त पर पड़े अहङ्कार के आवरण को उतार

फेंका, तव मेरा पति परमेश्वर अर्थात् आत्म तत्त्व मुझ जीवात्मारूपी स्त्री को अपने हृदय से लगाने के अतिरिक्त और क्या करता अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा अथवा शक्ति और शिव का मिलन हो जाता है।

मेरे पति अर्थात् आत्मा ज्ञानवान् हैं। संसार के सभी ज्ञान उनमें निहित हैं। मैं भोली-भाली जीवात्मा जव तक जगदाभिमुखी थी, तव तक तो स्वयं को वहुत बुद्धिमान् समझती थी, किन्तु पति के सामने पड़ते ही मुझे अपनी अज्ञानता का पता चल गया। मेरे पति निर्मल एवं पवित्र हैं। अपवित्रता भी उनका स्पर्श करते ही पवित्र हो जाती है। उनके सामने आते ही अपनी अपवित्रता दीखने लगी और मुझे संकोच होने लगा। जिस प्रकार अपवित्र नदियाँ पवित्र गङ्गाजी में मिलकर पवित्र हो जाती हैं, इसी प्रकार मैं भी पवित्र पति से मिलकर पवित्र हो जाऊँगी,—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

मेरे पति मुझसे पूछते थे, किन्तु मैं बोल नहीं पाती थी। मैं तो जगत् में भटकती रहती थी। मेरा मन चञ्चल था, कभी भी एक स्थान पर नहीं ठहरा। पति परमेश्वर के आलिङ्गन से मुझे जिस आनन्द एवं ज्ञान की अनुभूति हुई, वह अवर्णनीय है। मैं अपने प्यारे पति का रहस्य वतलाने में भी असमर्थ हो गयी। प्रयत्न करने पर भी मैं मूक रह जाती। दरिया साहव कहते हैं कि मैं अज्ञानी, अपवित्र, बोल पाने में असमर्थ एवं पति के रहस्य वतला पाने में मूक होते हुए भी निश्चित् ही मुझे पूर्ण पति प्राप्त हो गये। अर्थात् यह जगत्, इसके सभी विषय, पदार्थ, प्राणी, परिस्थितियाँ सभी अपूर्ण हैं। सभी की सीमाएँ हैं, सभी के आदि-अन्त हैं। केवल मेरे पति

परमेश्वर ही सत्य हैं, नित्य हैं, अनन्त हैं और अपरिवर्त्तनीय हैं। मैं ऐसे पूर्ण पति को प्राप्त कर धन्य हुई।

जैसा कि हम बराबर लिखते आ रहे हैं, जब तक आन्तरिक शक्ति, जिसे शास्त्रों में गुरु तथा भक्ति-ग्रन्थों में आह्लादिनी कहा गया है, अन्तर्मुखी जागृत नहीं होती, तब तक परा भक्ति भी प्राप्त नहीं होती। इसे सगुण भक्ति भी कहते हैं।

सगुण भक्ति

सगुण भक्ति के विषय में सन्त तुकाराम जी कहते हैं—

"आधिल्या भ्रतारे काम नव्हे पुरा,
म्हणोनि व्यभिचारा टेकलिये ॥१
रात्रंदिन मज पाहिजे जवली,
क्षण त्या वेगकी न गमे घडी ॥२
न धरावा लोभ कांही माझे विशी,
झाले देवा पिशी तुका म्हणे ॥३"

प्रथम पति से मेरी कामना पूरी नहीं हुई, इसलिए मैंने व्यभिचार किया। अब तो वह (परमात्मा) मुझे नित्य साथ चाहिए। उसके बिना मैं एक पल भी नहीं रह सकती। मेरे मन में इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहा। हे भगवान्! मैं पागल हो गयी।

यहाँ प्रथम पति से तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से है। मनुष्य का वास्तविक प्राप्तव्य स्थान तो निर्गुण ब्रह्म ही है, किन्तु निर्गुण ब्रह्म की भक्ति सम्भव नहीं है। इसके लिए साधक का स्वयं निर्गुण होना आवश्यक है जिसके लिए उसे जीवभाव से ऊपर

उठना पड़ता है। निर्गुण अवस्था प्राप्त करने के उपरान्त किसी भी प्रकार की कोई भी साधना न तो सम्भव है और न आवश्यक है। शास्त्रों में जो निर्गुण भक्ति कही जाती है, यदि उस पर विचार करें तो वास्तव में वह भी सगुण भक्ति ही होती है, किन्तु सगुण भक्ति की अपेक्षा निर्गुण होती है। यहाँ तुकाराम जी कहते हैं कि प्रारम्भ के स्वामी से मेरी कामना-पूर्ति नहीं हुई, मैं निर्गुण की भक्ति नहीं कर सका। अतः मुझे व्यभिचार करना पड़ा अर्थात् सगुण ब्रह्म की शरण एवं भक्ति का मार्ग अपनाना पड़ा।

सगुण उपासना करने के उपरान्त जब पति परमेश्वर मेरे समक्ष प्रत्यक्ष हो गये, तब तो मैं उनके बिना एक पल भी नहीं रह सकता। उन से दृष्टि हटते ही मैं बैचेन हो जाता हूँ और पुनः उन्हीं में तल्लीन हो जाता हूँ।

जैसा कि सूरदास जी ने कहा है—

"मेरो मन अनत कहा सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै॥"

अर्थात् जिस प्रकार जहाज पर बैठा चञ्चल पक्षी इधर-उधर उड़ता फिरता है, किन्तु चारों ओर उसे अथाह समुद्र ही दिखायी देता है, कहीं भी बैठने का स्थान नहीं मिलता। तब वह विवश होकर पुनः उसी जहाज पर लौट आता है। इसी प्रकार सगुण प्रेमी भक्त का मन भी ईश्वरीय शक्ति आह्लादिनी की क्रियाओं पर स्थिर रहता है। कभी-कभी चञ्चल होकर इधर-उधर जाता भी है तो उसे विश्राम नहीं मिलता,

क्योंकि उसे चारों ओर मिथ्या जगत् रूपी अथाह समुद्र ही फैला हुआ दिखायी देता है। फिर तो वह अन्तर में जागृत आह्लादिनी रूपी इष्ट देव के सान्निध्य में ऐसा मस्त होता है कि उसके सामीप्य की सभी कामनाएँ पूरी होती रहती हैं। इसी को तुकाराम जी ने व्यभिचार कहा है।

तब उस प्रेमी भक्त को भगवान् के बिना कुछ सूझता ही नहीं। अन्तर्लक्ष्य होने पर तो वह भगवत्-शक्ति की क्रियाओं का अनुभव करता ही है, किन्तु बहिर्लक्ष्य होने पर भी वह उस परा-शक्ति को ही सर्वत्र नाम-रूपात्मक जगत् में ओतप्रोत देखता है, उसी की लीलाओं का दर्शन करता है और उसी की गोद में विश्राम पाता है।

सन्त तुकाराम जी कहते हैं कि मैं पागल हो गया। यह पागलपन सामान्य पागलपन की अपेक्षा अन्य प्रकार का होता है जिसमें व्यक्ति पागल तो नहीं होता, अपितु पागलवत् दिखता है। संसारी लोग उसे पागल समझते हैं, किन्तु वह दैवी स्थिति की मस्ती में मस्त रहता है।

सगुण परा भक्ति ही अमृत है

नारद-भक्ति-सूत्र में 'अमृत स्वरूपा च' कह कर परम प्रेम रूपा भक्ति को अमृत कहा गया है, क्योंकि परा भक्ति चित्त के संस्कारों को क्षीण कर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करने का हेतु है। सन्त दरिया साहब ने इसी भाव को निम्न पद में व्यक्त किया है—

"अमृत नीका कहै सब कोई,
पिये बिना अमर नहिं होई।

कोई कहै अमृत बसै पताल,
नर्क अन्त नित ग्रासै काल ।।
कोई कहै अमृत समुन्दर माहीं,
बड़वा अगिनि क्यों सोखत ताहीं ?
कोई कहै अमृत सुरगाँ माहिं,
देव पियें क्यों खिर-खिर जाहीं ?
सब अमृत बातों की बात,
अमृत है संतन के साथ ।
'दरिया' अमृत नाम अनंत,
जाको पी-पी अमर भये संत ।।"

अमृत को सभी कोई 'नीका' परम हितकारी मानते हैं और यह भी सच है कि उसके पान किये बिना कोई अमरत्व नहीं प्राप्त कर सकता । कोई उसको पाताल में मानते हैं; परन्तु वह भी अन्त में काल का ग्रास बन (नष्ट हो) जाता है। किसी का मत है कि अमृत सागर में है, क्योंकि सागर से अमृत-मन्थन की कथा सभी जानते हैं । किन्तु यदि समुद्र में अमृत होता तो वड़वानल उसके जल को क्यों सोखता ? कोई कहते हैं कि अमृत चन्द्रमा में है । यदि उसमें अमृत होता तो चन्द्रमा क्यों घटता, वढ़ता तथा अमावस्या को लुप्त क्यों हो जाता ? किसी का मन्तव्य है कि अमृत स्वर्ग में है । पर यदि ऐसा होता तो स्वर्गवासियों का बार-बार वहाँ से आवागमन क्यों होता रहता ? यह अमृत तो केवल मात्र बातों ही बातों का है अर्थात् शब्द-जाल मात्र थोथा विश्वास है । अमृत तो केवल मात्र सन्त-जनों के पास उनके सत्सङ्ग में है ।

दरिया साहब कहते हैं कि वह अनन्त ही अमृत है जिसे

पी-पी कर सन्त अमर हो गये। उस अनन्त के नाम रूपी अमृत को पी-पी कर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो गये।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि अपने चित्त के अन्दर शक्ति की अन्तर्मुखी जागृति ही वह अमृत है जो मनुष्य को जन्म-मरण से मुक्ति प्रदान करता है। किन्तु उस अमृत की केवल चर्चा करते रहना और गुरुतत्व के अन्तर्मुखी जागरण के लिए प्रयत्नशील न होना थोथा विश्वास है जिससे लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो सकती। जाग्रति प्राप्त करने का मार्ग भी दरिया साहब ने बतला दिया है तथा सन्तों को उसका हेतु बतलाया है। वैसे तो साधक शक्ति-जागृति के लिए अनेकों उपाय करते हैं, किन्तु वे कहाँ तक सफल होते हैं, यह बात भिन्न है। नारद-भक्ति-सूत्र में उपरोक्त अमृत-रस को पान करने का उपाय बतलाया है—"मुख्यतस्तु महत् कृपैव"—मुख्यतः तो सन्तों एवं महापुरुषों की कृपा से ही आह्लादिनी शक्ति की जागृतिरूपी अमृत प्राप्त होता है।

परा भक्ति विषयक कुछ अनुभव

जब हृदय के आधार पर भगवती आह्लादिनी क्रियाशीला होती है तो भक्ति-विषयक क्रियाएँ होती हैं, जैसे—भाव-विभोर हो जाना, आर्द्र हृदय से भगवान् से प्रार्थनाएँ करने लगना, रोने अथवा हँसने की क्रियाएँ होने लगना, अश्रुपात होने लगना आदि-आदि। कुछ क्रियाएँ शारीरिक स्तर पर अनुभव होने पर भी शक्ति के अन्तर्गत ही मानी जा सकती हैं, जैसे—शरीर का घूमना, डोलना, उछलने लगना, शरीर का पृथ्वी पर गिर पड़ना, रोना अथवा हँसना, किसी ध्येय पदार्थ पर दृष्टि

स्थिर हो जाना जिसे मानसिक स्तर पर घटित होने वाली क्रिया समझा जाता है अर्थात् इस को ध्यान-योग की क्रिया माना जाता है। किन्तु यदि ध्येय विषय किसी इष्टदेव का विग्रह अथवा मन्त्र आदि हो तो इसे भक्ति-विषयक मान लिया जाता है। अर्थात् ध्येय-विषय के अन्तर के अनुसार क्रिया के स्वरूप में अन्तर मान लिया जाता है। हमारे विचार में मानसिक एकाग्रता के सभी विभिन्न ध्येय भक्ति-विषयक क्रियाओं के अन्तर्गत ही हैं, चाहे ध्येय कोई पदार्थ, इष्ट विशेष, मन्त्र या भाव हो, कोई पहाड़, नदी, समुद्र, रङ्ग, पुष्प, सूर्य, चन्द्र हो अथवा कोई अन्य क्रिया विशेष हो। वास्तव में भक्ति, योग, ज्ञान, ध्यान आदि में कोई निश्चित् सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। जैसे-जैसे भक्ति का स्तर ऊपर उठता जाता है, हृदय के साथ-साथ उसमें मन, बुद्धि तथा शरीर आदि सभी का समावेश होता जाता है।

उपरोक्त आधार पर ही हमने सन्तवाणी के कुछ अनुभव-युक्त पदों का चयन किया है जिनसे साधकों एवं पाठकों को परा भक्ति, उसके स्वरूप तथा उसके अन्तर्गत होने वाली अनुभूतियों को स्पष्ट समझने में सहायता मिलेगी।

सर्वप्रथम सूरदास जी का निम्न पद देखिये—

"कोउ माई लैहें री गोपालै।
दधि को नाम स्याम सुन्दर रस बिसरि गयो बृज बालै ॥१
मटकी सीस फिरति बृज बीथिनि बोलत बचन रसालै।
उफनत तक्र चहुँदिसि चितवत चित लाग्यो नंदलालै ॥२
हँसति रिसाति बुलावति बरजति देखो उनकी चालै।
सूर स्याम बिन और न भावै या बिरहिन बेहालै ॥३"

सूरदास जी ने इस प्रसङ्ग में परम प्रेमरूपा भक्ति प्राप्त बृज-गोपिका की चित्त-स्थिति का दिग्दर्शन किया है। श्याम सुन्दर के भाव में तल्लीन यह बृजबाला दधि का नाम ही भूल गयी और आवाज लगा रही है कि कोई माई गोपाल ले लो। बृज की गलियों में अपने सिर पर मटकी धरे यह बड़ी मधुर वाणी में बोल रही है। मठा छलकता जा रहा है और यह चारों ओर अपनी दृष्टि फैलाये हुए है। चित्त तो इसका नन्दलाल में ही लगा हुआ है। उसकी चालें तो देखो—कभी हँसती है, कभी रूठती है, कभी किसी को बुलाती है और फिर इनकार कर देती है कि मैंने कब बुलाया ? सूरदास कहते हैं कि यह विरहिन अति बेहाल हो गयी है। इसे श्याम के बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

सूरदास ने यहाँ परम प्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति होने पर साधक की चित्त-स्थिति का रसमय वर्णन किया है। ऐसा व्यक्ति जगत् की दृष्टि में पागलों जैसा व्यवहार करता है। उसका हँसना और रोना बाह्य अनुकूलता के आधार पर नहीं होता वरन् आन्तरिक संस्कारों के अनुरूप होता है। जगत् भक्त के चित्त में झाँक कर तो देख नहीं सकता, किन्तु बाहर हँसने या रोने का कोई कारण दिखायी न पड़ने पर उसको पागल समझता है। जब चित्त में एकाग्रता के संस्कार उदय हो उठते हैं तब भक्त संसार में अनमना-सा व्यवहार करने लगता है। जगत् में अभिमुख वस्तु का नाम और रूप भी भूल जाता है किन्तु उसके हृदय में एकाग्रता के विषय का नाम-रूप उसे बार-बार स्मरण होता है। साधक की इसी विचित्र अवस्था का वर्णन कबीरदास ने किया है—

"रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै ॥
बिना ताल जहँ कमल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै ॥
बिन चंदा उजियारी दरसै जहँ-तहँ हंसा नजरि परै ॥
दसवें द्वारे ताली लागी अलख पुरख जाको ध्यान धरै ॥
काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै ॥
जुगन-जुगन की तृषा बुझाती करम भरम अघ व्याधि टरै ॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय, कबहूँ न मरै ॥"

जब जिह्वा उलट कर तालुमूल को स्पर्श करती है तथा लम्बक में से रस झरता है, उसे पान कर साधक अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी खेचरी मुद्रा के प्रभाव का वर्णन यहाँ भक्त कबीर कर रहे हैं। अमृत रस झरता तो निरन्तर रहता है किन्तु उसका पान वही साधक करता है जिसे खेचरी होती हो। तब तो बिना बाजा, करताल, तबला आदि वाह्य सङ्गीत-उपकरणों के अन्तर में भाँति-भाँति के नाद-श्रवण आरम्भ हो जाता है जिसे योगिक शब्दावली में दिव्य श्रवण कहा जाता है। घण्टा-नाद, बाँसुरी, मृदङ्ग, पक्षियों का चहचहाना, बादलों की गर्जन, भ्रमरों का गुञ्जन, सङ्गीत के स्वर इत्यादि अन्तर में सुनाई देने लगते हैं। जब साधक का चित्त स्वभावतः ही इन पर एकाग्र हो जाता है तब उसके चित्त की मानसिक, बौद्धिक क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। उसका वृत्ति-निरोध हो जाता है। भक्त को कभी-कभी ऐसी स्थिति साधना में उत्पन्न हो जाती है कि चन्द्र, सूर्य आदि बिना किसी वाह्य प्रकाश के एवं बिना स्थूल नेत्रों की सहायता के उसे अपने अन्तर में प्रकाश, दीपक की लौ, ज्योत्सना की शीतलता इत्यादि का अनुभव होता है तथा उसी में उसका चित्त रमा

रहता है। इसे विशोका ज्योतियों के दर्शन कहा जाता है जिनसे उसके शोक का नाश होता है। इसके आगे का स्तर आत्म-स्थिति अथवा समाधि का है जिसे यहाँ कबीर ने हंसा का दिखाई देना कहा है।

कुछ विद्वानों ने आह्लादिनी या कुण्डलिनी के सुषुम्णा में प्रविष्ट होने को दसवें द्वार का खुलना कहा है। इसके पश्चात् सुषुम्णा के अन्तर्गत घटित होने वाले विभिन्न स्तरों एवं विभिन्न प्रकार की क्रियाओं पर ध्यान जम जाने को यहाँ कबीर ने ताली लगना कहा है। तब क्रियाओं के माध्यम से संस्कार क्षीण होते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारों के कारण संस्कारों के क्षीण होते जाने से ये भी विलीन होने लगते हैं। युगों-युगों से चित्त में व्याप्त विषयों के प्रति तृष्णा शान्त होने लगती है। कर्म, भ्रम, पाप तथा व्याधि टलने लगते हैं। कबीर जी कहते हैं कि इस परा भक्ति की जागृति से मनुष्य अमृत्व की ओर बढ़ता है एवं उसकी मृत्यु नहीं होती। वह इसे जन्म-मरण के रूप में नहीं लेता वरन् दृश्य एवं अदृश्य होने की क्रिया मात्र समझता है। तब मृत्यु के प्रति उसका भय समाप्त हो जाता है।

"मुरली कौन बजावे हो, गगन मण्डल के बीच ॥
त्रिकुटी-संगम होय कर, गंग-जमुन के घाट ॥
या मुरली के शब्द से, सहज रचा बैराट ॥
वा मुरली को टेरहि सुन-सुन रहीं गोपिका मोहि ॥
जहँ अधर डाली हंसा बैठा, चुगत मुक्ता हीर ॥
आनन्द चकवा केल करत है, मानसरोवर तीर ॥
शब्द सुन मिरदंग बजत है, बारह मास बसंत ॥

अनहद ध्यान अखंड आतुर वे, धारत सब ही संत ।।
कान्ह गोपी करत नृत्यहि चरन वपु ही विना ।।
नैन विन 'दरियाव' देखै आनंद रूप धना ।।"

उपरोक्त पद में अपने अंतर-अनुभव का वर्णन करते हुए दरिया साहब कहते हैं कि मेरे चित्ताकाश में बैठकर मुरली कौन वजाता है ? यहाँ पर भी अन्तर्नाद की ही वात कही गयी है। गंगा-जमुना अर्थात् इड़ा और पिङ्गला-सङ्गम सुषुम्णा रूपी अन्तर्सरस्वती से आन्तरिक प्रयागराज अर्थात् भृकुटि के स्थान पर इस मुरली को कौन वजाता है ? मुरली के इसी शब्द से जगत् रूपी भगवान् के विराट् स्वरूप की रचना होती है । इस स्तर पर भक्त के सन्मुख जगत् का नाम-रूपात्मक स्वरूप गौण होकर चैतन्य का स्थूल रूपान्तरण होता है। अर्थात् यह जगत् भी भक्त को भगवान् का ही स्वरूप दिखायी देता है। इस गङ्गा-यमुना के आन्तरिक प्रयाग पर उत्तर दिशा अर्थात् सहस्रार की ओर से अन्तर्नाद की धुन सुनायी दे रही है। उस मुरली की मधुर ध्वनि सुनकर चित्त-रूपी गोपी का हृदय मोहित हो रहा है। हृदय में उस अन्तर्नाद के प्रति प्रेमासक्ति के भाव घनघोर वादलों की तरह उमड़ रहे हैं।

सहस्रार को दरिया साहब ने मानसरोवर की उपमा देते हुए कहा है कि वहाँ पर आत्मरूपी हंस बैठा है जो इस अनित्य, नश्वर, नाम-रूपात्मक जगत् के अनित्य तत्व को छोड़ता जाता है तथा नित्य चैतन्य तत्व को ग्रहण करता है। आनन्द रूपी चकवा भाँति-भाँति के खेल करता है अर्थात् भक्त आनन्द-विभोर होकर आनन्द की मस्ती में झूमता है। इस नाद-श्रवण

के ध्यान को सन्त सदैव ही धारण करते हैं। तब वहाँ भगवान् कृष्ण रूपी आत्मा एवं ब्रजगोपिका रूपी जीवात्माएँ सदैव ही स्थूल नेत्रों से अदृश्य नृत्य में संलग्न रहते हैं। दरिया साहब तो इस नृत्य को अपने स्थूल नेत्रों के बिना देखता ही रहता है। उसे अपार आनन्द की अनुभूति होती रहती है।

भगवान् का अपार सौन्दर्य, मुरली का अत्यन्त आनन्ददायी अन्तर्नाद, परमात्मा तथा जीवात्मा का अलौकिक नृत्य, गङ्गा-जमुना का मिलन-स्थल अर्थात् अन्तःप्रयाग आज्ञाचक्र, अन्दर और बाहर सर्वत्र भगवान् की अद्भुत लीला—इन विस्मयकारी अनुभवों में भक्त अवाक् एवं मंत्रमुग्ध होकर द्रष्टाभाव में स्थित हो जाता है। इस अनुभव में जहाँ एक ओर जगत् की असारता प्रत्यक्ष होती है, वहीं दूसरी ओर आत्मा का नित्यत्व भी अनुभवगम्य होता है।

"भया हरि रस पी मतवारा।
आठ पहर झूमत ही बीतै, डार दिया सब भारा ॥१
इड़ा पिङ्गला ऊपर पहुँचे, सुखमन पाट उघारा।
पीवन लगे सुधारस जब ही, दुर्जन पड़ी बिडारा ॥२
गंग-जमन बिच आसन मार्‍यो, चमक दमक चमकारा।
भँवर गुफा में दृढ़ ह्वै बैठे, देख्यो अधिक उजारा ॥३
चितइ स्थिर चंचल मन थाका, पाँचौं का बल हारा।
चरनदास किरपासूँ सहजो, भरम करम हुए छारा ॥४"

हरि के प्रेम-रस का पान कर भक्त मतवाला हो जाता है। वह आठों पहर झूमता रहता है। अपना सम्पूर्ण बोझ भगवान् पर डालकर स्वयं मुक्त हो जाता है। जब से भक्त सुधारस का

पान करने लगा है तब से धीरे-धीरे उसके चित्त में सञ्चित पाप-कर्म दूर हटते जाते हैं। भक्त आसन लगाकर अपनी स्थिति आज्ञा चक्र में—इड़ा-पिङ्गला रूपी गङ्गा-जमुना के सङ्गम में स्थापित करता है। वहाँ पर रंग-बिरंगे प्रकाश, ज्योतियाँ, सूर्य, चन्द्र इत्यादि अनुभव में आते हैं। अपने चिदाकाश में भक्त दृढ़तापूर्वक एकाग्र चित्त होकर अपने अन्दर उदय होने वाले प्रकाश में मगन तथा स्थिर-चित्त हो जाता है। मन शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच विषयों में भटकता-भटकता चञ्चलता त्याग देता है। सहजोबाई कहती हैं कि सद्गुरु चरणदास की कृपा से मेरे भ्रम और कर्म क्षीण हो गये।

जब आह्लादिनी अन्तर्मुखी जागृत होकर परा भक्ति की स्थिति प्राप्त होती है तब साधक को उसका नशा चढ़ा रहता है। जैसा कि गुरु नानकदेव ने कहा है—

"नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहै दिन रैन।"

नाम की शक्ति का नशा ऐसा चढ़ता है कि दिन-रात उतरने का नाम ही नहीं लेता। साधक उठते, बैठते, व्यवहार करते हर समय मस्त हाथी की तरह झूमता, प्रफुल्लित एवं प्रसन्न रहता है। जगत् की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता चित्त को प्रभावित नहीं कर पाती। लोग बाहरी नशा करते हैं जो उतर जाता है, किन्तु शक्ति की जागृति की मस्ती तो चौबीसों घण्टे बनी रहती है। इसका एक कारण सहजोबाई ने और भी बताया है कि साधक को ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है कि क्रिया करने वाला वह स्वयं नहीं, वरन् ईश्वरीय शक्ति है। उसका शरीर एवं चित्त तो केवल आधार है। तब साधक के

चित्त की ऐसी स्थिति हो जाती है कि सभी उत्तरदायित्व शक्ति (अपने इष्ट) पर डाल कर मस्त हो जाता है। जब इड़ा और पिङ्गला ऊपर पहुँचती हैं, तब सुषुम्णा नाड़ी अपने पट खोल देती है। अर्थात् जप, पूजन आदि करते-करते अथवा गुरु-कृपा के फलस्वरूप जब इड़ा और पिङ्गला में प्राण निरुद्ध हो कर मूलाधार पर स्थिर हो जाता है तब जपादि मंत्र अथवा गुरु-कृपा से उसे सुषुम्णा में प्रविष्ट किया जाता है। तब तो जैसे-जैसे शक्ति सुषुम्णा में ऊपर चढ़ती जाती है, विभिन्न चक्रों पर विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ अनुभव में आती हैं तथा चक्र-भेदन होता जाता है, वैसे-ही-वैसे संस्कार, वासनाएँ एवं पाप-कर्म क्षीण होते जाते हैं। इसी प्रसवक्रम में शक्ति एकाग्रता की क्रिया सम्पादित करने के स्थान आज्ञा चक्र पर स्थिर होती है। वहाँ चित्तवृत्ति कभी तो किसी संस्कार विशेष के उदय होने पर किसी अन्दर से ही उदित ध्येय विषय पर एकाग्र हो जाती है तथा कभी उसे विभिन्न प्रकार के ज्योति-दर्शन होने लगते हैं। अन्तःप्रकाश इतना तीव्र होता है मानो बाहर दृश्यमान् कई सूर्य एक साथ प्रकाशित हो उठे हों। तब साधक शान्त, स्थिर एवं स्तब्ध हो जाता है। अपने अन्तर्स्थ चिदाकाश पर चित्तवृत्ति एकाग्र हो जाती है और अन्तःप्रकाश तीव्र से तीव्रतर होता जाता है—

"गगन गुफा में बैठिके रे, उलटि के अपना आप देखै।
अजपा जपै बिन जीभ सों रे, बिन नैन निरंजन रूप लेखै॥
ज्योति बिना दीपक है रे, दीपक बिना जगमग पेखै।
'यारी' अलख अलेख है रे, भेष के भीतर भेष भेषै॥"

सन्त यारी साहब इस पद में ऐसे भाव रखते हैं कि साधक

चिदाकाश में बैठकर तथा उलटे हो कर अपना आपा देखता है। वह विना जिह्वा हिलाये अजपा जप का आनन्द लेता है। बिना नेत्रों के निरञ्जन का दर्शन पाता है। बिना दीपक के ज्योति है। दीपक के विना ही अपने अन्तर में जगमग देखता है। यारी साहब कहते हैं कि उस परमात्मा के विषय में कुछ लिखा नहीं जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि साधक इस शरीर के अन्दर एक और शरीर देखता है।

जब तक साधक के शरीर अथवा चित्त में आत्म-स्थिति रहती है, तब तक उसका आत्मा चित्त में निवास करता है, किन्तु जब उसकी शक्ति उलटक्रम में जागृत होकर उसके चित्त को शुद्ध कर देती है और साधक का अहंभाव चैतन्य में स्थित हो जाता है, तब उसे अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति-विम्व का ज्ञान हो जाता है। साधना के इस क्रम में विना जिह्वा हिलाये ही अपने अन्दर जप होता हुआ श्रवण होता है। यह श्रवण स्थूल कर्णेन्द्रिय से नहीं, वरन् सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से ही सम्भव होता है। पहले तो जप मुख से उच्चारण कर वाणी के मध्यमा स्तर से भी आगे पश्यन्ती के स्तर पर घटित होता हुआ अनुभव होता है। फिर साधक का चित्त उस अजपा-जप अर्थात् विना जप किये ही जप की ओर आकर्षित होता जाता है। इसी प्रकार साधक स्थूल चक्षुओं की सहायता के विना ही आन्तर सूक्ष्म नेत्रों से त्रिगुणातीत परमात्मा के दर्शन करता है। चित्त शुद्ध हो जाने तथा माया के आवरण के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर चित्त पर पड़े आत्मा के चेतन प्रकाश को प्रत्यक्ष अनुभव करना ही यहाँ पर अभीष्ट है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि उपरोक्त स्थिति

को आत्म-स्थिति नहीं कह सकते, क्योंकि तब अजपा-जप तथा आत्म-दर्शन की क्रियाएँ भी पूर्णतया विलीन हो जाती हैं।

इस स्थिति में बिना किसी दीपक, तेल, बाती के अन्दर प्रकाशित ज्योति को देखता है। यारी साहब कहते हैं कि परमात्मा एवं परमात्मा की अन्तर्मुखी जागृत चैतन्य शक्ति को इन स्थूल इन्द्रियों से देखा, सुना एवं अनुभव किया नहीं जा सकता। उसके सम्बन्ध में कुछ लिखा भी नहीं जा सकता। बस, इतना ही कह सकते हैं कि इस स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर है जिसका बाह्य प्रसार स्थूल शरीर है। जो सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों शरीरों का कारण होता है, वही माया अथवा अविद्या है।

कारण शरीर के अन्दर आत्मतत्त्व होता है जिसकी चैतन्य शक्ति प्रसव-क्रम में उद्भूत होकर कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल—तीनों शरीरों का कारण होती है।

3147
12.10.07

श्री १००८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज कृत—

शक्तिपात—६-०० । शिवसूत्र-प्रबोधिनी (शक्तिपात भाग २)—५-०० । साधन संकेत—३-०० । Devatma Shakti (English)—२०-००, रैक्सीन बाइंडिंग—२५-०० । सौन्दर्य लहरी (संशोधित एवं परिवर्धित)—२०-०० । आत्म-प्रबोध—१२-०० । अध्यात्म-विकास—८-०० । वैदिक-योग-परिचय—१०-०० । प्राणतत्त्व—५-०० । पातञ्जलयोग-दर्शन—६-०० । उपनिषद्-वाणी—२०-०० । गीता-तत्त्वामृत—२०-००, प्लास्टिक के जाकेट सहित—२२-०० । प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्—३-०० । शक्तिपात-प्रश्नोत्तरी—५-०० ।

श्री स्वामी शिवोमतीर्थ जी महाराज कृत—

साधन-पथ—५-०० । श्री नारायण-उपदेशामृत—८-०० । गुरु-परम्परा—५-०० । योग-विभूति—८-०० । शक्तिपात-पथ-प्रदर्शिका भाग १—५-००, भाग २—२०-००, भाग ३—२०—०० । A Guide to Shaktipat (English)—१८-०० ।

अन्य उपलब्ध ग्रन्थ—

साधन-सम्पदा—६-०० । योगिकसहस्रधारा—५-०० । रास-रहस्यम्—५-०० । सौभाग्योदयम्—८-०० । षटचक्र-निरूपण—३-०० । कुलार्णवतन्त्र—१-५० । योगेन्द्र-चरित—८०० । मेरे गुरुदेव ५-०० ।

SVI
S.N
Sub
Su

A newly revised and expanded version of a popular and unique work, this extraordinarily valuable introductory discussion of the philosophy of hatha yoga is indispensable to any student of yoga.

This clear and easy to follow exposition views hatha within the framework of raja yoga, the yoga of eight complements, as promulgated by Patanjali, the author of the Yoga Sutras, the most authoritative text on the science of yoga.

Hatha should not be merely a system of physical exercise: this work emphasizes the paramount role that the mind plays in hatha yoga, and demonstrates how to elevate the practices of hatha to an inner spiritual experience.

This study outlines how the practice of hatha yoga can serve as a means to understand the subtler essences of mind and prana and to prepare for meditation and the awakening of the kundalini force.

PHILOSOPHY OF HATHA YOGA

Pandit Usharbudh Arya, D.Litt.

Dr. Pandit Usharbudh Arya was born in 1933 in Dehradun, India, in a Sanskrit-speaking family. At the age of eleven he expounded the Vedas and Upanishads to crowds of thousands, and taught many learned people at that young age. Since then he has maintained worldwide spiritual missions, traveling continuously through many countries. Although he holds B.A. (London), M.A. (London), and D.Litt. (Holland) degrees and several academic honors, he has given himself to the task of teaching meditation and spiritual philosophies of life under the guidance of his Gurudev, H. H. Swami Rama of the Himalayas.

He is also head of the Department of Philosophy of the Eastern Studies Program of the Himalayan Institute of the U.S.A. His main spiritual centers are the Center for Higher Consciousness, in Minneapolis, and his (Gurudev's) ashram in Rishikesh, India.

A prolific writer and speaker, he is the author of numerous books and articles, including *Superconscious Meditation, Mantra and Meditation, God, Meditation and the Art of Dying, Love Is a Marriage,* and a 600-page commentary on the first chapter of the Yoga-Sutras of Patanjali. There are also his 2,000 hours of recorded cassette courses on all aspects of the practices and philosophies of meditation.

Published by
Himalayan International Institute of Yoga Science and Philosophy of the U.S.A.
Honesdale, Pennsylvania 18431

$5.95

ISBN 0-89389-088-X